

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३८ अंक-१७२, वर्ष-१५, जनवरी-२०१२

वीर संवत् २४९२, बैसाख सुद २, शुक्रवार,
दि.२२-४-१९६६, इष्टोपदेश गाथा - २९ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - ३४

'इष्टोपदेश' शास्त्र है। 'पूज्यपादस्वामी' दिगम्बर मुनि हुए हैं उनके द्वारा रचित 'इष्टोपदेश' (अर्थात्) आत्मा को हितकर उपदेश (शास्त्र है)। २९वीं गाथा चलती है। देखो !

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।

नाहं बालो न वृद्धोहं, न युवैतानि पुद्गले॥२९॥

क्या कहते हैं ? कि धर्मात्मा अपने स्वरूप को अंदर में देह से और पुण्य-पाप के राग से भिन्न समझते हैं। मैं शुद्ध चैतन्य ज्ञायक आनंद शुद्ध ध्रुव अजरअमर अनादिअनन्त चैतन्य हूँ। ऐसी दृष्टि के धारक सम्यक्दृष्टि अपनी मृत्यु को नहीं मानते। मृत्यु-जन्म आदि तो शरीर के धर्म हैं। पुद्गल की पर्याय पुद्गल का धर्म है, वह आत्मा का धर्म नहीं है। शुद्ध अंतर्मुख दृष्टि का विषय आत्मा आनंदकंद ज्ञानानंद अपना निज स्वरूप (है) ऐसी जिनको अंतरमें दृष्टि हुई है वे कहते हैं कि, 'एकोहं निर्ममः शुद्धः'।

टीका, विशदार्थ है। मैं एक हूँ। मैं एक हूँ मतलब, सब मिलकर एक नहीं, मेरा स्वरूप ही एक है। अनंत ज्ञान, दर्शन से भरा 'एकोहं निर्ममः शुद्धः' मेरी वस्तु पर के ममत्व के आग्रह से रहित है। रागादि शुभभाव या अशुभभाव या शरीर जड़ आदि की क्रिया होती हैं उससे 'ममः' 'ममः' नाम अभिनिवेश, अभिनिवेश नाम अभिप्राय - यह मेरा है और मैं इनका हूँ, ऐसे अभिप्राय से धर्मात्मा अंतर में पर से शून्य है। 'ममः' नहीं। यह राग, विकल्प, शरीर, वाणी मेरे नहीं, अतः इसकी मृत्यु या देह छूटने से मेरी मृत्यु हो गई ऐसा धर्मी नहीं मानते।

शुद्ध हूँ। मैं ज्ञायक चिदानंदस्वरूप एक समय में निर्मल पर्याय सहित मेरा स्वभाव शुद्ध है। मैं अनादि अनन्त अमर हूँ। मेरे स्वरूप में मृत्यु नहीं है। यह मृत्यु का अर्थ है। 'न में मृत्युः' समझ में आया ? 'आनंदघनजी' कहते हैं न ? कल आया था। 'अब हम अमर भये न मरेंगे, या कारण मिथ्यात्व तज्यो हम, या कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों कर देह धरेंगे, अब हम अमर भये न मरेंगे, अब हम अमर भये न मरेंगे, अब हम अमर भये न मरेंगे, या कारण...' यह 'ममः' शब्द का अर्थ है। 'या कारण मिथ्यात्व दियो तज' वह 'निर्ममः' का अर्थ है। राग, विकल्प, शरीर आदि पर्याय मेरे में त्रिकाल में



नहीं है। ऐसा जो अभिप्राय या पुण्य-पाप के भाव, शरीर और वाणी मेरे में हैं ऐसे अभिप्राय को भगवान अभिनिवेश-मिथ्या अभिप्राय-मिथ्यादर्शन कहते हैं। धर्मी को ऐसे मिथ्यादर्शन का (अभाव है)। शून्य है ऐसा पहले आया है। शून्य है - मेरे में नहीं है। मैं तो शुद्ध अमर चिदानंद स्वरूप हूँ।

'या कारण मिथ्यात्व तज्यो हम क्यों कर देह धरेंगे' देह धारण करने का (कारण) ही नहीं है। देह का जन्म वह तो संयोगी चीज है। मेरे स्वरूप में देह धरने का नहीं है। ऐसे सम्यक्दृष्टि अपने आत्मा को शुद्ध अखण्ड आत्मा मानता है तो कहते हैं कि 'जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है...' समझ में आया ? बालक हो चाहे वृद्ध हो, नारकी हो या पशु हो, सम्यक्दृष्टि अपने स्वरूप में संयोगी चीज का लेश संबंध स्वीकार नहीं करते। मैं तो एक अखण्ड ज्ञानानंद शुद्ध चैतन्य (हूँ)। 'इत्यादिरूप से जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ...' 'ऐसा जो मैं हूँ...' मैं हूँ। अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनंद ऐसा मेरा स्वरूप है। 'उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता।' इन्द्रियप्राण, श्वासप्राण, आयुष्यप्राण, शरीरप्राण ये जड़ के प्राण हैं, मेरे प्राण ही नहीं।

मेरे प्राण आनंद, शांति, ज्ञान और सत्ता, सत्ता ऐसे मेरे प्राण हैं। अनादिअनंत मैं चैतन्यस्वरूप से जीनेवाला। जीवतर शक्ति से संपन्न भगवान आत्मा हूँ। आहाहा..! समझ में आया ? सम्यक्दृष्टि को - सत्यदृष्टि को - मेरे स्वरूप में पर के प्राण ही नहीं है। अतः प्राण के विच्छेद को मरण कहते हैं, मेरे में जड़ के प्राण ही नहीं है तो उसके विच्छेदरूप मरण मेरा कहाँ से हो ? कहीए, समझ में आया ?

'प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित् शक्तिस्वरूप भावप्राणों का कभी भी विछोह नहीं हो सकता।' अहो! मैं तो ज्ञान, दर्शन, आनंद ऐसी शक्ति, ऐसा मेरा स्वभाव, ऐसा आत्मा से विछोह-वियोग-अभाव-कभी तीनकाल में नहीं होता। ऐसा मेरा स्वभाव है, ऐसे अपने स्वभाव का निश्चय किया है। 'जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारणभूत...' जब मुझे मरण भय

नहीं है फिर किसका डर ? मैं एक शुद्ध ध्रुव चैतन्यधातु हूँ। मेरे ज्ञान, आनंद, प्राण मेरे पास हैं। जो शरीर आदि प्राण हैं उसके त्याग से मेरा मरण नहीं होता। समझ में आया ?

मृत्युकाल में भी धर्मी को.. 'संसारी प्राणी को, मरण का भय है, मेरे मन आनंद की लहर है।' समझ में आया ? देह छूटने के काल अपने स्वभाव को पहले से ही भिन्न समझ लिया है, अनुभव कर लिया है। दुनिया को मृत्यु का त्रास है, मेरे मन आनंद की लहर है। आहाहा..! समझ में आया ? 'संसारी को मृत्यु का त्रास है, संसारी को मृत्यु का दुःख है, मेरे मन आनंद की लहर जो..' मैं तो आत्मा आनंद शुद्ध चैतन्य हूँ। मेरे स्वभाव का वियोग कभी नहीं होता। शरीर का वियोग होता है सो तो पुद्गल की पर्याय है। उसका वियोग तो जब संयोग जिसका है उसका वियोग होनेवाला ही है। इसमें मेरा जन्म और मरण नहीं होता। जन्म-मरण मेरे में है ही नहीं। ऐसे धर्मी अपने चैतन्यस्वभाव को जन्म-मरण रहित असंग अपने आप को जानता है और अपने आप में ऐसा अनुभव करता है।

कहते हैं, 'जबकि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारणभूत काले नाग आदिकों से मुझे भय क्यों ?' आहाहा..! काला नाग, बाघ और सिंह खाने आये तो क्या हो गया ? कौन खाय ? किसको खाय ? मैं तो अरूपी आनंदघन हूँ। मेरा भक्षण करनेवाला जगत में कोई है नहीं। ऐसा मेरा (स्वरूप है)। बड़ा सिंह आ जाय, खाओ ! आहाहा..! समझ में आया ? और काले नाग की यहाँ डरावनी उपमा दी है, भाई ! डरावना काला नाग हो ऐसा, लोग जिससे डरते हैं। किसका डर ? प्रभु ! तू तो चैतन्यधातु है न ! अनादिअनंत शाश्वत वस्तु है न ! शाश्वत वस्तु का खण्ड, छेद, भंग कभी तीनकाल में नहीं होता। ऐसे काले नाग से भी 'मुझे भय क्यों ?' समझ में आया ?

'श्रीमद्' भी 'अपूर्वअवसर'में कहते हैं न !

एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां

एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां

वली पर्वतमां वाघ-सिंह संयोग जो,
अडोल आसन ने मनमां नहीं क्षोभता
परममित्र नो जाणे पाम्या योग जो
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?

'श्रीमद राजचंद्र' का ३३ साल की आयु में देह छूट गया। उन्होंने पहले 'अपूर्वअवसर' की भावना में ऐसा लिया। सात वर्ष की उम्र से जातिस्मरणज्ञान था। बाद में पीछे से आत्मज्ञान हुआ था। तैंतीस साल की उम्र में देह छूट गया। समझ में आया ? पहले भावना करते थे। गृहस्थाश्रम में थे, लाखों रुपये का मोती का व्यापार था। व्यापार व्यापार के घर रहा।

अपना आत्मा देह से भिन्न, राग से भिन्न, चैतन्यप्रभु, उसका अंतरमें भान, प्रबोध, बोध, शांति हुई है, तो कहते हैं कि, अहो! 'एकाकी विचरतो वली स्मशानमां' स्मशान में मैं अकेला विचरण करूँ। बाघ और पर्वत का संयोग, पर्वतीय जंगल के संयोग में बाघ और सिंह का संयोग हो (फिर भी) अडोल आसन - मेरी मृत्यु नहीं होती फिर मुझे भय कैसा ? समझ में आया ? अडोल आसन वह तो जड़ की पर्याय है। परन्तु फिर भी मन में क्षोभ नहीं। मैं चैतन्यधातु आनंदकंद अनाकूल शांतरस का पिण्ड हूँ। मुझे कौन खा सके ? मेरा नाश कौन कर सके ? ऐसे अंतर स्वभाव की दृष्टिवंत धर्मात्मा कहते हैं कि, बाघ और सिंह के संयोग में... यहाँ कहते हैं न, नाग के संयोग में भय नहीं है। समझ में आया ?

अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, अभिप्राय में अखंडानंद का अनुभव हुआ है उन्हें सम्यक्दृष्टि कहते हैं। सम्यक्दृष्टि काले नाग को देखे तो भी उन्हें भय नहीं होता। 'परममित्र नो जाणे पाम्या योग जो' आहाहा..! देह मेरा है नहीं, जिसको यह देह चाहिये वह ले जाओ ! ले जाओ ! आहाहा..! इसका नाम सम्यक्दर्शन है। देह की कोई क्रिया मैं कर सकता हूँ, दया दान के परिणाम मेरे हैं, इससे मुझे लाभ है, सो तो मूढ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? भगवानआत्मा ज्ञान की मूर्ति, चैतन्यस्वभावी सूर्य, सम्यक्, स्वभावसूर्य वस्तु आत्मा हूँ, ऐसा अंतर में भान हुआ तो कहते हैं, काले नाग आदिकों से, आदि

नाम सिंह, बाघ (खाने आये तो भी) मुझे भय कैसा ? आहाहा..! यह निर्भय। निःशंक... निःशंक ! समझ में आया ? निःशंकता है, निडर है, देह से भिन्न आत्मा को देख लिया है। देह से भिन्न ध्रुवतारे को देख लिया है। देह से भिन्न शाश्वत चीज, सम्यक्दृष्टि को जानने में, ज्ञान में, अनुभव में आ गई है। उन्हें भय या मृत्यु का डर नहीं होता। भवभय नहीं है।

'अर्थात् मैं किसीसे भी नहीं डरता हूँ।' मेरे शुद्ध स्वरूप में किसी परपदार्थ का प्रवेश नहीं है और मैं कभी परपदार्थ में प्रवेश नहीं करता। 'निर्जरा अधिकार' में आता है न ? भाई ! प्राण उच्छेदन, मरण का नहीं ? 'निर्जरा अधिकार' में आता है वही बात यहाँ दूसरे प्रकार से ली है। प्राण का नाश हो तो मुझे क्या ? मेरा चैतन्य जीवनप्राण ज्ञान से, आनंद से भरा चैतन्यप्रभु, इस वस्तु में किसी का (प्रवेश नहीं)। विकल्प, पुण्य-पाप का राग है इसका भी अंतर ध्रुव चैतन्य में प्रवेश नहीं है। प्रवेश भी जब नहीं तो दूसरा कौन उसे खा जायेगा या काट लेगा ? ऐसे धर्मी को अपने स्वरूप का निडरभाव होता है। समझ में आया ?

'इसी प्रकार वात, पित्त, कफ, आदि की विषमता को व्याधि कहते हैं...' देखो ! 'कुतो भीतिर्न में व्याधिः' मुझे व्याधि नहीं है। अहो ! व्याधि है सो जड़ की पुद्गल की, पर्याय है। सेठ ! यह मिट्टी-धूल है। इसकी व्याधि, रोग जड़ की दशा है। यह दशा पुद्गल की है, मेरे में व्याधि नहीं है। आहाहा..! समझ में आया ? मेरे में पुद्गल की पर्याय की व्याधि का अत्यंत अभाव है। मैं किसी से (भयभीत नहीं)।

'वात...' यह जोड़ो का दर्द होता है न ? चल नहीं सकते। यूँ करे, यूँ करे। यूँ चिल्लाते हैं। ये तो वात माने ये जोड़। वात होता है न ? 'वा' 'वा' क्या है ? दर्द से आवाज करता है... क्या करते हैं ? वह जड़ की पर्याय का तुझे स्पर्श भी नहीं है। शरीर में जोड़ों का दर्द, जड़ की अवस्था आत्मा को कभी स्पर्श भी नहीं करती। आत्मा जड़ की पर्याय को कभी तीनकाल तीनलोक में छूआँ तक नहीं। समझ में आया ? अरे..ये !

अरे...! मर गया रे..! कौन मरे प्रभु ? कौन मरे देह मरे ? आत्मा मरे ? कौन मरे ? देह के रजकण का अस्तित्व भी शाश्वत है, त्रिकाल है, इसकी पर्याय पलटती है। तू भी शाश्वत है। तेरी अवस्था पलटती है। परन्तु अंतर स्वभाव सन्मुख हो तो तेरी दशा आनंदमय होती है। पर का, संयोग का लक्ष होगा तो आकुलता के, दुःख के ढेर हैं समझ में आया ?

पहले यह आ चूका है, भाई ! अपने शुद्ध चैतन्य भगवान पर दृष्टि देने से, स्वभाव का संग करने से शांति, आनंद मिलता है। जितना पर संयोग में लक्ष जाता है उतनी आकुलता, दुःख का समूह भोगना पड़ता है। आहाहा..! यह पहले आ गया है। यह कैसे (माने) ? जगत को यहाँ पैसे में, धूल में, शरीर में मजा पड़ती है। धर्मी को आत्मा में मजा है, पर में आनंद नहीं मानते। करोड़ों, अरबों या पाँच-पच्चीस लाख या करोड़ हो, धूल है। शरीर धूल है वह मेरा नहीं है तो यह चीज मेरी कहाँ से हुई ?

कहते हैं कि, वात की पीड़ा नहीं है। कब ? अभी आत्मा में वात की पीड़ा है ही नहीं न, भगवान ! वह तो देह की पर्याय है न। यह बोला जा रहा है वह जड़ की अवस्था है। आत्मा बोलता ही नहीं। आत्मा में कहाँ रजकण पड़े हैं ? भीतर आवाज वह आत्मा में है क्या कि, आवाज उठे ? आहाहा..! वह तो जड़ की ध्वनि, शब्द की ध्वनि उठती है। वह आत्मा में नहीं है। मेरे में वात नहीं है।

पित्त नहीं है। पित्त का प्रकोप होता है न गर्मी में ? बहुत पित्त हुआ है। भगवान ! तू तो अरूपी है न ! प्रभु ! तेरे में तो शांति पड़ी है न ! शांति में पित्त का प्रकोप कहाँ से आया ? शांति में पित्त का प्रकोप कहाँ से आया ? भगवानआत्मा शांति का सरोवर, सागर है ऐसी दृष्टि में स्वयं में पित्त हुआ है ऐसा धर्मी नहीं मानता। समझ में आया ? शरीर से भिन्न मेरी वस्तु है तो शरीर की जितनी पर्याय है वह सब पुद्गल की हैं, मेरे में नहीं है।

कफ। लीजिये ! श्वास जड़ है, मिट्टी है। इसके

कारण वह गति करता है। ऊँचा-नीचा होता है। आत्मा श्वास को हिलाता नहीं है। आत्मा श्वास नहीं लेता, आत्मा श्वास नहीं छोड़ता, आत्मा श्वास को बंद नहीं करता। वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा..! वह पित्त और कफ। श्वास में (कफ) अटकता है न ? क्या है ? वह कोई चैतन्य में नहीं है, वह तो पुद्गल की पर्याय है। धर्मी सम्यक् सत्य दृष्टिवंत जड़ की किसी भी पर्याय को अपनी पर्याय में नहीं मानते। अपने में नहीं मानते तो इसका दुःख मुझे है, ऐसा कभी नहीं बनता।

'कफ आदि...' आदि में ये केन्सर होता है। समझे ? भगंदर होता है, कंठमाल होता है। ऐसे-ऐसे रोग होते हैं। एकदम नसें टूट जाती हैं। रक्त निकलने लगता है। लहू.. खून। अभी देहांत हुआ न परसो ? हेमरेज। परसो पैंतीस साल का जवान। मास्टर, पैंतीस वर्ष का। दो मिनट में (चल बसा)। ऐसी देह की स्थिति है, भगवान ! देह की अवस्था जब पूरी होनी होती है तब पूरी हुए बिना नहीं रहती। इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र आये तो भी रोक नहीं सकते कहते हैं कि, कफ आदि की पीड़ा मेरे में नहीं है। समझ में आया ?

'कफ आदि की विषमता को व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थ से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं।' इसका रजकण के साथ सम्बन्ध है। आहाहा..! वह रोग का संबंध, संबंध रजकण के साथ है। मेरे साथ संबंध है ही नहीं। आहाहा..! समझ में आया ? 'जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी ?' दूसरा शब्द डाला। बूखार.. बूखार। १०५ डिग्री, छ डिग्री हो तो आहाहा..! यूँ लावा कूटे ऐसा बूखार। भाई ! वह तो जड़ की पर्याय है। प्रभु ! तुझे आत्मा की खबर नहीं। समझ में आया ? यह सब जड़ की दशा हैं। भगवान आत्मा पर से भिन्न है ऐसा भान किये बिना जीव के जन्म-मरण के अंत कभी नहीं आयेंगे। तीनकाल तीनलोक में आत्मा पर से भिन्न विकल्प से भिन्न शांत आनंदस्वरूप है, ऐसी दृष्टि किये बिना, आत्मज्ञान बिना जन्म-मरण के अंत नहीं आते। और आत्मज्ञान हुआ तो फिर मुझे व्याधि नहीं है। वह

पुद्गल की है, मेरे में है नहीं। आहाहा..!

पाँच डीग्री बूखार हो और सामायिक करनी हो, ध्यान करना हो तो नहीं हो सकता। तो क्या वह जड़ की पर्याय तुझे रोकती है ? समझ में आया ? सातवीं नारक का नारकी, उसे इतनी पीड़ा है, इतनी पीड़ा है कि भगवान उसे जाने और वह उसे भोगे। वहाँ भी भीतर में सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले होते हैं। आहाहा..! क्योंकि वह तो संयोगी चीज़ है। बाहरी पीड़ा संयोग में है। इतनी पीड़ा की जन्म के साथ ही सोलह रोग। सातवीं नरक का नारकी है, हँ ! 'हम्बग' (झूठ) नहीं है। आत्मा ने अनन्तबार ऐसे भव किये हैं और अनन्तबार नरक में गया है।

भगवान आत्मा, पूर्व में राजा था, सुना था किन्तु ध्यान नहीं दिया, आत्मज्ञान नहीं किया तो नरक में गया। वहाँ याद आया। आहाहा..! यह ? यह क्या है ? क्या जीवन इसीको कहते होंगे ? यह वस्तु ऐसी ही होगी ? क्या इसमें से निकलने का कोई स्थान, कोई काल, कोई मर्यादा है या नहीं ? क्या है ? ऐसे विचार करते-करते पूर्व में संत के पास सुना था कि, अरे..! प्रभु ! तू तो शुद्ध आनंद है न ! यह उसकी स्मृति में आया। ऐसी पीड़ा के बीच स्मृति आयी। जैसे बिजली तांबा के तारमें से ऊपर से नीचे उतर जाती है वैसे भगवान आत्मा सातवीं नारकी की पीड़ा के संयोग में (रहा-रहा ऐसे देखता है), यह पीड़ा जड़ की है, मेरे में नहीं। मैं तो ज्ञाता चैतन्यसूर्य अनादि शाश्वत धातु चिद्घन शाश्वत तत्त्व हूँ, ऐसी अंतर दृष्टि लगायी तो स्वभाव के अंदर वीर्य उतर गया और अनुभव हो गया। आहाहा..! इतनी पीड़ा में। यहाँ तो थोड़ी पीड़ा हो कि, चिल्ला चिल्ली करने लगते हैं। समझ में आया ?

अरे ! भगवान ! धर्म किसको कहते हैं ? आहाहा..! मेरे आत्मा में शरीर का स्पर्श भी नहीं, वैसे सातवीं नरक का नारकी निज चैतन्य का अनुभव करता है तो इस मनुष्य देह में तो इतनी पीड़ा है ही नहीं, ऐसे संयोग है ही नहीं। अज्ञानी चिल्ला-चिल्ली करता है। अपने चैतन्यवस्तु के भासन बिना, यह जड़ की पर्याय मेरी है,

इसका अस्तित्व टिकाये रखूँ ऐसी बुद्धि वहाँ पड़ी है। यहाँ अंतरबुद्धि नहीं है। अंदर चैतन्य में क्या है इसकी बुद्धि तो है नहीं, बाहर में है।

कहते हैं, धर्मीजीव (ऐसी भावना करता है कि) 'ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी ? उसी तरह मैं बाल वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ।' बाल अवस्था वह शरीर की कोमल परमाणु की पर्याय को बालअवस्था कहते हैं। मेरे में बाल्यावस्था नहीं है। आहाहा..! भगवान ! बाल अवस्था तो मिट्टी की, ये चमड़ी की, हड्डियों की अवस्था है। सो तो पुद्गल की पर्याय है। आखिर में लिया न ? 'एतानि पुद्गले' यह बाल अवस्था पुद्गल की पर्याय है, आत्मा की नहीं। देखो ! सिद्ध करते हैं, है ! पुद्गल है उसकी पर्याय है। मात्र चैतन्य है और जड़ नहीं है, ऐसा नहीं है। सिद्ध करते जाते हैं। शरीर की अवस्था भी है, जन्म-मृत्यु आदि शरीर में हैं, ऐसी चीज़ है परन्तु इससे मेरी चीज़ भिन्न है। जगत में केवल आत्मा ही है और दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं सो बात नहीं है।

कहते हैं 'ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी ? उसीतरह मैं बाल वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ।' युवान अवस्था नहीं। बत्तीस वर्ष का युवान। किसे युवान कहना ? भगवान ! वह तो पुद्गल की पर्याय है, तेरी वस्तु तो इससे भिन्न है। ज्ञानानंद भगवान में युवानी कैसी ? भगवान आत्मा में बाल अवस्था कैसी ? प्रभुआत्मा में वृद्धावस्था कैसी ? ये तीनों अवस्थाएँ जड़ की जड़ में होती हैं उसे अपने में होती हैं, ऐसा मानना ही मिथ्यादर्शन शल्य है। आहाहा..! समझ में आया ? इसका नाम मिथ्यात्व है। अजीव होनेवाली स्थिति मेरे में हो रही है, इसीका नाम अजीव को जीव मानना है। यह जीव का विपरीत अभिप्राय है। उसे जड़-चैतन्य का भिन्न ज्ञान नहीं है।

(शेष अगले अंक में....)



**श्री परमागमसार वचनामृत १३१ पर पूज्य
भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं.३८
(दि.९-१२-८२, भावनगर)**

१३१. 'ज्ञान की दशा में अनुभूतिस्वरूप भगवान जानने में आने पर भी तूँ उसे क्यों नहीं जानता।' ज्ञान की दशा में ज्ञान ही जानने में न आये ऐसा नहीं बनता। ज्ञान की दशा में ज्ञान ही जानने में न आये ऐसा नहीं बनता। लेकिन अगर तेरा ध्यान कई और हो तो जानने में आने पर भी वह नहीं जानने के बराबर होता है जरूर।

जैसे आँखें खूली हो, तो सामने जो चीज़ हो उसका प्रतिबिंब आँख के परदे पर आये बिना नहीं रहता। परन्तु उन दिखने योग्य पदार्थ, दिखते हुए पदार्थ पर लक्ष्य नहीं हो या किसी दूसरे विचार में लक्ष्य हो या सुनने में, खाने में लक्ष्य हो तो देखी हुई चीज़ का प्रतिबिंब झलकने के बावजूद भी नहीं जानने योग्य अनुभव रहता है। तब वह नहीं जानने में आता है ऐसा कह सकते हैं क्या ? इसका प्रतिबिंब ही नहीं झलकता ऐसा तो नहीं कह सकते। प्रतिबिंब तो ठीक झलकता है। वरना तो उसका गुणधर्म उसवक्त नष्ट हो जाये, परन्तु ऐसा तो है नहीं।

वैसे ज्ञान की दशा में ज्ञान अनुभव में आता है, ऐसा कहना है। ज्ञान की दशा में ज्ञानवेदन चालू ही रहता है। उसका टंकोत्किर्णपना है। भगवान आत्मा टंकोत्किर्ण ऐसा विशेषण लगाते हैं न ? टाँकी से उत्किर्ण किया हुआ हो, उत्किर्ण नाम टाँका हुआ। उत्किर्ण है वह साहित्य का शब्द है जिसे हम आम भाषा में टाँका हुआ कहते हैं। टाँकी से कुदेरा हुआ कभी मिटता नहीं वैसे आत्मा टंकोत्किर्ण स्वभाव होने से वह मिटाया नहीं मिटता। ज्ञान में ज्ञानवेदन को मिटाया नहीं जा सकता। यह जो ज्ञानवेदन का अनुभव है वही भगवानआत्मा का अनुभव है ऐसा कहना है। ठीक। (कोई प्रश्न पूछता है कि,) वह तो पर्याय का अंश है न ? (तो कहते हैं),

ज्ञानानुभूति वही आत्मानुभूति है। यह तो आगे हम कह चुके हैं। कहते हैं कि ज्ञानानुभूति है वही आत्मानुभूति है। अतः वह द्रव्य-पर्याय का तेरा क्षयोपशम ज्ञान बीच में मत लाना। यह तकलीफ होती है।

द्रव्य-गुण-पर्याय की व्याख्या सीख ले बाद में ऐसा समझे कि मुझे तो त्रिकाली का ध्यान करना है व त्रिकाली का अनुभव करना है जबकि मुझे एक समय की पर्याय का अनुभव नहीं करना है। ऐसा-ऐसा सीख लेवे। परन्तु अनुभव तो एक समय की पर्याय का ही होता है। कभी किसी भी जीव को त्रिकाली का अनुभव नहीं होता। निगोद का हो या सिद्ध की दशा में हो, किसी को नहीं होता। परन्तु सिखता है ऐसा कि द्रव्य-गुण-पर्याय है उसमें से हमें द्रव्य का, त्रिकाली का अनुभव करना है, पर्याय का अनुभव नहीं करना है। जबकि वह तो लक्ष करने का विषय है, अवलंबन की बात है, वेदन की बात है नहीं। और तुझे अगर अवलंबन बदलना हो,.. देखो ! यह विज्ञान कैसा है ? अब बात तो अवलंबन बदलने की रही न ? कि, अगर तुझे अवलंबन ही बदलना है तो वेदन से उठना पड़ेगा। जिस वेदन का अवलंबन नहीं लेना है वही से पकड़ाते हैं। क्यों ? क्या हुआ है ? हुआ है यूँ कि, जीव अपने स्वरूप से, मूल स्वरूप से इतना दूर गया है कि, वह पर को वेदता है - ऐसा मानता है, स्वीकार करता है। मानता है मतलब स्वीकार करता है। ऐसा जीव का concept है कि, यह शरीर सो मैं, शरीर की साता-असाता मुझे हो रही है, खारा (नमकीन), खट्टा, तीखा मुझे लगता है, ठण्डा-गरम मुझे लगता है। हलका, भारी, मुलायम, खुरदरा ये सब मुझे लगता हैं। इतना दूर गया है कि, जीव सर्वथा भिन्न ऐसे जड़ रजकणों के साथ एकमेकरूप में अपना अनुभव करता है। ऐसे जीव को इसका अनुभव करने के लिये उसका जो स्वभाव

अंश खूला है वहीं से स्वभाव का अवलंबन कराते हैं। वेदन से यहाँ पर्याय का अवलंबन नहीं कराते परन्तु वेदन द्वारा यहाँ स्वभाव का अवलंबन करवाते हैं। यह कथनकर्ता की असाधारण विचक्षणता व अनुभवपूर्णता है।

खुद भी तो एक समय जिनको उपदेश दे रहे हैं उनके जैसी स्थिति में ही थे न ? या जैसे इस मोक्षमार्ग में जो प्रवेश नहीं करते, जिनका प्रवेश नहीं है ऐसे जीवों को समझाते हैं न ? अतः उनको खुदको ख्याल है कि वह स्थिति कैसी थी और कैसे उस स्थितिमें से स्वयं ने पलटा खाया इसका खुदको अनुभव है।

अतः यहाँ कहते हैं कि, देखो ! भाई ! अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान की दशा में जानने में आता है। ज्ञान की दशा में तो ज्ञान जानने में आता है। तो कहते हैं, यह ज्ञान जो जानने में आता है वही आत्मा है। ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान सो आत्मा आप कैसे कहते हों ? भगवान ! ज्ञान तो पर्याय है यहाँ पर। यहाँ तो ज्ञान पर्याय है। तो कहते हैं, कि उस ज्ञानपर्याय को मैं तुझे नहीं दिखाता। उस ज्ञानपर्याय में जो स्वभाव है उसे दिखाता हूँ और वह स्वभाव ही भगवान है। क्या कहना है ? स्वभाव है सो भगवान है। स्वभाव को तो तू भगवान के रूप में स्वीकारने के लिये तैयार हो कि नहीं ? अब हमें तुझे प्रगट भगवान के दर्शन कराने हैं। तू भगवान की कल्पना कर कि ऐसा भगवान... ऐसा भगवान... ऐसा भगवान... ऐसे नहीं। तू प्रत्यक्ष देख ले कि, यह भगवान ऐसा है। ये तुझे दिखा देते हैं। इतनी बात है अंदर में।

देख ज्ञान की दशा में अनुभूतिस्वरूप भगवान है ऐसा कहते हैं कि तुझे जानने में आता है। तेरा ध्यान नहीं है लेकिन अगर तू ध्यान दे तो, ध्यान से देखे तो तो तुझे वह जानने में आ रहा है, ऐसा है। वही भगवान है। क्या कहना चाहते हैं ? कि, पर्यायत्व को देखनेवाला द्रव्यत्व को नहीं देखता यानी कि स्वभाव को नहीं देखता। द्रव्यत्व है वह स्वभाव स्वरूप है और स्वभाव है वह द्रव्यस्वरूप है। इसमें तो कोई, सीखे हुए ज्ञान में भी ना दे सके ऐसा नहीं है। तकलीफ कहाँ होती है ? द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान का जो कल्पित ख्याल होता है इसके वह बाधारूप होता है। इसकी कल्पना

बाधारूप होती है। जैसे मुझे पर्याय का काम नहीं है मुझे तो द्रव्य का काम है। द्रव्य-गुण-पर्याय के तीन भेदमें से मुझे पर्यायभेद नहीं चाहिये, गुणभेद नहीं चाहिये, मुझे द्रव्य चाहिये। और द्रव्य सो मैं हूँ ऐसा मुझे समझाया गया है। अब यहाँ ज्ञान में, ज्ञान की दशा में भगवान जानने में आता है सो तो पर्याय है। मुझे कहाँ दशा की ओर देखना है ?

कहते हैं कि भाई ! वह तेरा कल्पित सिखा हुआ है। वह यहाँ कार्यकारी नहीं है। उन सब व्याख्याओंमें से तुझे द्रव्य की अन्यथा कल्पना हो गई है, परन्तु अगर तुझे द्रव्य के दर्शन करने हो, यानी कि भगवान आत्मा के दर्शन करने हो तो यह इसका Practical है। यह तो इसका Practical है। यह इसका प्रयोग है कि ज्ञान की दशा में यह वर्तमान में प्रवर्तित है इसलिये Practical कहते हैं। अब Theory पर नहीं जाना है। अब विचार पर नहीं जाना है। आत्मा का विचार नहीं करना है। अब आत्मा जो जानने में आता है उसे देखना है ऐसी बात है। इसमें विचार का प्रश्न यहाँ नहीं रहता। वह अनुभूतिस्वरूप जिसमें मैं.. मैं... मैं... मैं... मैंपने का अनुभव होता है ऐसा एक ज्ञानवेदन है जो व्यक्त स्वभाव अंश है वह स्वभाव है। ऐसे अनुभव को यहाँ भगवान आत्मा का अनुभव, स्वभाव का अनुभव माने भगवान आत्मा का अनुभव कहते हैं। वह अविरत चालू ही है। सर्व जीवों को चल रहा है, आबाल गोपाल सबको चालू है। मैं क्यों इसे नहीं जान रहा हूँ ? क्यों तेरा ध्यान नहीं है ? ऐसा पूछते हैं। क्या कहते हैं ? कि क्यों तेरा ध्यान नहीं जाता ?

घर में हीरे को पत्थर जानकर इसकी उपेक्षा करता था। झवेरी मित्र आया उसने ऐसा कहा कि, भाई ! तुने पत्थर माना ठीक है परन्तु इसकी चमक पर तो थोड़ा ध्यान देते। अब तू इसे ध्यान से देख। इसकी चमक और साधारण पत्थर दोनों एक जैसे लगते हैं क्या ? थोड़ा गौर से देख, थोड़ी सावधानीपूर्वक देख, मैं कहता हूँ कि, बारिकी से देख। भले ही थोड़ा समय लगे तुझे। बारिकी से, अधिक बारिकी से देखने पर ऐसा लगा कि बात तो कुछ है, विश्वास आये ऐसी बात है।

वैसे यहाँ पर जीव का लक्ष पलटवाते हैं। आत्मा

का, ज्ञान का, स्वभाव का, वारंवार ज्ञान सो आत्मा, ज्ञान सो आत्मा, अनुभूतिस्वरूप जो है वह आत्मा ऐसा कह-कहकर लक्ष्य पलटवाते हैं। यह 'लक्ष थवाने तेहनो कह्या शास्त्र सुखदायी' जो भी सुख के देनेवाले ऐसे जो सतशास्त्र, इसका अगर कोई प्रयोजन है तो इतना ही है कि कैसे भी एकबार जीव को इसका लक्ष हो जाये, कि यह अनुभूतिस्वरूप आत्मा, भगवानआत्मा जानने में आता है सो ही मैं हूँ।

एकबार इसका लक्ष हो जाये, पहचान होते ही लक्ष हो जाता है। फिर तो परिणाम की शुद्धि की प्रक्रिया स्वतः Automatic होने लगती है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्ध पर्यंत की। कहीं भी कर्तृत्वभाव नहीं करना पड़ता। जिन लोगों का क्रिया पर जोर है वे ऐसा कहते हैं कि, क्रिया किये बिना थोड़ी कुछ होता है ? त्याग करना पड़े, चारित्र अंगीकार करना पड़े। जैसे जबरन लेना पड़े और करना पड़े, यहाँ तो वह प्रश्न ही नहीं है। वह तो सहज क्रिया है। मोक्षमार्ग है वह सहज है। क्यों ? कि मोक्षमार्ग की सभी पर्यायें स्वरूप के अवलंबनपूर्वक प्रगट होती हैं।

जो त्रिकाल अकृत्रिम भिन्न-भिन्न समान आत्मबिंब है। इसलोक में है न ? अकृत्रिम जिनबिंब हैं। अकृत्रिम चैत्यालय भी हैं और अकृत्रिम जिनबिंब भी हैं इसमें। इसपर किसी तीर्थकर का चिन्ह नहीं होता। स्थापना जो हम करते हैं इसमें तो हमलोग तीर्थकर की स्थापना करते हैं। और जो भी तीर्थकर हो उनका लांछन होता है, उस चिन्ह को अपने यहाँ स्थापित करते हैं। परन्तु जो अकृत्रिम है, जो अनादि से है वह किस तीर्थकर का रखे ? कि वह प्रश्न ही नहीं है। वह नहीं होता। यह तो शास्त्र में आता है। पुराण की कथा में आता है। वह जैसा अकृत्रिम जिनबिंब है ऐसा ही यह अकृत्रिम सहज शाश्वत चैतन्यबिंब आत्मा है। ऐसे चैतन्य अकृत्रिम बिंब का मार्ग भी अकृत्रिम है, कृत्रिम नहीं है। अकृत्रिम स्वरूप के साथ कृत्रिमता को विसंगतता है। वह सुसंगत नहीं अपितु विसंगत है। अतः इसमें करना पड़े.. करना पड़े.. करना पड़े इसके साथ इसका बिलकुल मेल नहीं है। जो सहज दशा हो, सहज स्वरूप के आश्रय से सहजदशा उत्पन्न हो उसे, मोक्ष का मार्ग कहते हैं।

कहते हैं, 'भगवान जानने में आने पर भी तू

उसे क्यों नहीं जानता।' उल्लंघन कर जाता है। टंकोत्किर्ण ऐसी जो अनुभूति टंकोत्किर्ण अनुभूति जो कि कभी मिटती नहीं है, ऐसा कहते हैं। टाँकी से खुदरा हुआ मिटता नहीं वैसे ज्ञान में ज्ञानवेदन कभी मिटता नहीं। इसका उल्लंघन तुम क्यों करते हो ? जो हाज़िर है, मौजूद है, हयात है, चल रहा है, प्रगट है, वेदनरूप है और वेदन द्वारा प्रसिद्ध है। आत्मा किससे प्रसिद्ध है ? वेदन से प्रसिद्ध है। इसका उल्लंघन करके तू प्रवर्तता है। पुण्य-पाप को देखने के आकर्षण में और पुण्य-पाप के विषयरूप पदार्थों की विधविधता को देखने में तू इतने खिंचाव में हो कि जिसके कारण तू भगवान आत्मा को क्यों नहीं जानता ? प्रगट अनुभूति स्वरूप है और जानने में आ रहा है उसे तू क्यों नहीं जानते हो ? यह प्रश्न उठाया है।

'अरेरे..!!' देखो ! विस्मयता दिखायी है। खेद और साथ में विस्मय है कि 'अरेरे..!! ज्ञान की दशा में भगवान जानने में आने पर भी तू अनादि से विकल्पाधीन होने से...' देखो ! कैसा शब्द इस्तेमाल किया है। जैसे विकल्प ने, रागने तेरे पर कब्जा जमा लिया हो, ऐसी तेरी स्थिति है। ब्यसनी को तो परपदार्थ ने कब्जा जमाया ऐसा ही लगता है। जैसे कि, यह बीड़ीने मुझे ऐसा तो जकड़ रखा है न, ऐसा पकड़ रखा है न कि छूटती नहीं है। तू उसके अधिन हो गया। एक पत्ता। ये चाय की पत्ती ले लीजिये न। आदमी को चाय के बिना नहीं चलता। पत्ती कितनी ? कि चवत्री जितनी भी नहीं डलती। कितनी डालते हैं ? एक कप चाय में कितनी चाहिये ? चवत्री जितनी भी नहीं चाहिये। एक तोले की भी बहुत कम मात्रा। बस ! इसके हवाले तू ! आश्चर्य होता है भाई ! तू तो बड़ा। और फिर भी अभिमान का पार नहीं। मेरा अपमान हो रहा है। मेरा अपमान किया। मुझे ऐसा किया परन्तु तू स्वयं तो चाय की पत्ती में बिक गया है।

जिसकी कीमत करने जाये तो दो-चार आना हो, कितनी ? अगर ६०-७०-८० पैसे की चाय मिलती हो तो पत्ती तो इससे कम मात्रा में आयेगी। इसमें दूध आया, शक्कर आयी, सबकी लागत तो है न इसमें कि नहीं ? और मुनाफा भी इसके अंदर आया कि नहीं ? ५० प्रतिशत तो मुनाफा है इसमें। अब आना-दो आना की पत्ती के

आगे तू बिक गया है और फिर शिकायत करते हो कि किसीने मेरा अपमान किया। लेकिन तेरे मान का ठिकाना ही कहाँ है। तेरा अपमान तो तूने खुदने किया है। हमने कहाँ किया है ? किसने किया है अपमान ? कि, एक-दो आने की चाय। २५-५० पैसे के चाय की पत्ती, इससे भी तू तो सस्ता, इसके बिना तुझे चले नहीं। तो फिर तेरा अपमान तूने नहीं किया तो और क्या किया है ? तेरा अवमूल्यन, अपमान यानी अवमूल्यन, तेरा अवमूल्यन तूने नहीं किया तो किसने किया है ? अब तेरी कीमत तो दो-चार आने से भी कम हुई। बात पूरी हो गई।

उस पर तेरा ध्यान है, क्षुद्र पदार्थों पर तेरा ध्यान है। और इतना खिँचाव सहित ध्यान है कि तुझे भगवान आत्मा जानने में नहीं आता है। जानने में आने पर भी जानने में नहीं आता है ऐसी बात है। और जानने में आयेगा भी कैसे ? कुछ तेरी भी तैयारी तो होनी चाहिये कि नहीं ? ऐसा कहते हैं।

‘अरेरे ! ज्ञान की दशा में भगवान जानने में आने पर भी तू अनादि से विकल्पाधीन होने से भगवान को नहीं जानता।’ सब में हाँ भरे। परन्तु प्रकृति की बात आते ही हाँ नहीं करता। जिसको जो भी प्रकृति का जोर हो वह अपने प्रकृति के विषय में ढीला नहीं छोड़ सकता। क्योंकि वैसी प्रकृति कब बनी है ? कि उसने तीव्र रस से बनाई है और अभी भी इसका रस नहीं छोड़ता है। इसलिये ऐसा प्रकार है। और वही उसका

आत्मा हो जाता है। वही उसका आत्मा बन जाता है। अतः उसीका अनुभव करता है जीव। प्रकृतिभाव का ही अनुभव करता है। और इस प्रकृतिभाव को छोड़कर वहीं पर मौजूद भगवान का अनुभव, स्वभाव का अनुभव, उसका जीव अनुभव नहीं करता।

यह एक गाथा ऐसी है, जहाँतक रीत के साथ सम्बन्ध है, कार्य की पद्धति के साथ संबंध है यह एक गाथा ऐसी है कि इसके मर्म की गहराई में, तल में जाकर स्पर्श करे तो फटाक दरवाजा खूल जाये ऐसा है। मोक्षमार्ग की अलमीरा खूल जाये ऐसा है। ऐसी यह १७-१८वीं गाथा है। क्योंकि आचार्य महाराज ने एक बहुत असाधारण बात की है कि तू अज्ञानी... अज्ञानी... अज्ञानी (मानते हो), मुझे आत्मा का दर्शन करना है ऐसी अपेक्षा रखकर तू आया है मेरे पास। श्रीगुरु के पास जाता है न शिष्य बनकर ? हमें आत्मा का दर्शन कराईये। तो कहते हैं कि, भाई ! हम तो यों कहते हैं कि आबाल-गोपाल सब को अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आ ही रहा है। हमारा यह वचन ऐसा है कि तुझे आत्मा का अनुभव नहीं है इस बात को खत्म कर दे। तू ऐसा कहता है कि मुझे आत्मा का अनुभव नहीं है, उस बात को खत्म कर देते हैं। क्योंकि हम अस्तित्व से स्थापित करते हैं कि सबको अनुभव है। इन सब में तू आ जाता है। अतः तेरी बात वह छूट जायेगी और तुझे आत्मा का अनुभव होगा। विशेष कहेंगे...

श्री परमागमसार वचनामृत १३१ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं.३९, (दि.१०-१२-८२, भावनगर)

अनादि के अज्ञानी जीव को स्वानुभव प्राप्त करने का सरल-सुगम उपाय क्या है ? यह १७-१८ गाथा का विषय है। वैसे तो अनादि से अनभिज्ञ विषय है। जीवने अनंतकाल में बहिर्भाव से बाह्य पदार्थों के आश्रित ही परिणाम किये हैं। और ऐसे परिणामों की प्रवृत्ति की ही उसे Practice है, अभ्यास है। और यही उसका स्वरूप हो गया है ऐसा जीवने स्वीकार किया है। ऐसी बहिर्मुख परिणाम की प्रवृत्ति ही उसका स्वरूप है, ऐसा जीवने स्वीकार कर लिया है। अतः इससे अत्यंत विरुद्ध ऐसा

अंतर्मुखपना क्या है ? इससे जीव बिलकुल अनजान है। और ऐसी अंतर्मुखता कैसे हो यह ‘श्रीगुरु’ बतलाते हैं। गाथा का प्रस्तुत विषय यही है कि जीव अंतर्मुख कैसे हो ? और वह भी सुगमता से कैसे अंतर्मुख हो ? इतनी सरल शैली इसमें निहित है। क्या कहते हैं ?

‘ज्ञानरूपी दर्पण की स्वच्छता में...’ चौथी लाइन है, तीन हो गई। **‘ज्ञानरूपी दर्पण की स्वच्छता में भगवान आत्मा विबित होने पर भी स्वयं को कैसे खबर नहीं होती ? - कि राग के विकल्पवश होने**

से उसकी नजर में राग ही आते हैं, जिससे भगवान अनुभूत होते हुए भी जानने में नहीं आता। ज्ञान में जानते हुए भी नहीं जानने जैसी क्रिया अभी भी हो रही है। कल दृष्टांत लिया था कि, नेत्र खूले हो, खूले चक्षु में सामने आनेवाले पदार्थ का प्रतिबिंब झलकता हो, फिर भी लक्ष यदि दूसरे विषय पर हो तो दिखने पर भी नहीं दिखता है ऐसा कह सकते हैं।

ऐसा ज्ञान में राग पर लक्ष है। राग पर लक्ष है मतलब राग सो मैं ऐसा एकत्व है। अतः ज्ञान सो मैं ऐसा एकत्व नहीं होता। वास्तव में स्वयं ज्ञानस्वभावी होने पर भी, ज्ञान सो मैं ऐसा क्यों एकत्व, अनुभव नहीं होता ? कि विरुद्ध ऐसे विभाव और राग सो मैं, विभाव सो मैं। जब-जब जैसा विभाव उत्पन्न हो वैसा मैं - ऐसा विपरीत अनुभवन है। राग के विकल्प को वश हुआ होने से..

स्वयं ने प्रश्न उठाया है। प्रवचन में और प्रवचन में ही 'गुरुदेवश्री' ने प्रश्न उठाया है कि 'ज्ञानरूपी दर्पण की स्वच्छता में भगवान आत्मा विवित होने पर भी स्वयं को कैसे खबर नहीं होती ?' ऐसा प्रश्न उठाया है। आचार्यदेव तो कहते हैं कि, आबाल-गोपाल को अनुभूतिस्वरूप भगवानआत्मा अनुभव में आ ही रहा है। कहते हैं कि अनुभव में आ रहा है मतलब वह जानने में आ रहा है। जानने में आते हुए भी जीव को स्वयं को क्यों पता नहीं चलता है कि जानने में आ रहा है ? क्योंकि जीव ने ऐसा स्वीकार कर लिया है कि राग सो मैं, ऐसा उसने स्वीकार कर लिया है। अतः राग के विकल्प को वश हुआ, वर्तमान रागरूप विकल्प को वश हुआ, उसके अधिन हुआ होने से उसकी नजर में राग आता है और भगवान आत्मा जानने में आ रहा होनेपर भी लक्ष्य नहीं जाता। ऐसी बात है।

तीन तरफ से मूड़ी हुई रस्सी पड़ी हो और उसमें साँप की भ्रांति हो जाये कि साँप पड़ा है। शाम के साढ़े सात बजे का हलका-हलका अंधेरा हो, पूरा अंधेरा नहीं हो इसलिये धूँधलेपन में थोड़ा अस्पष्ट दिखता हो ऐसे में शंका हो जाये, हाँलाकि उसे तो शंका नहीं हुई है उसने तो वैसा मान ही लिया है। भय होते समय उसने ऐसा स्वीकार ही कर लिया है। स्वीकार किये बिना भय की उत्पत्ति नहीं होती। साँप पड़ा है। तो रस्सी और

साँप। साँप है सो रस्सी नहीं है और रस्सी है सो साँप नहीं है। एक के स्वीकार में दूसरे के स्वीकार का अभाव है। जब उसने साँप है ऐसा स्वीकार कर लिया है तब रस्सी दिखने के बावजूद भी उसे रस्सी नहीं दिखती। क्या दिखा है उसे ? रस्सी दिखने के बावजूद भी रस्सी नहीं दिखी। ऐसा है।

इतना ही नहीं राग का भी ज्ञान में प्रतिबिंब ही झलकता है। न तो ज्ञान रागरूप होता है नाहीं राग ज्ञानरूप होता है, अज्ञानी को भी। फिर भी वह ज्ञेयनिष्ठ होने से। ज्ञेयमें निष्ठा होने से अथवा पर में स्वपने की भ्रांति होने से। ज्यों रस्सी में साँप की भ्रांति हुई है वैसे पर में स्वपने की भ्रांति हुई होने से राग सो मैं, वैसा जीव मिथ्या अनुभव करता है। मिथ्या आभास उसको वर्तता है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं। उस जीव को तो वह सच ही लगता है। राग सो मैं ऐसा अज्ञानी को तो ठीक वैसा ही लगता है जैसे स्पष्ट दिखता है न कि राग मुझे हुआ। यहाँ कहते हैं कि, तुझे ज्ञान होता है। तू आत्मा है और तुझे ज्ञान होता है और तुझे ज्ञान में भगवानआत्मा मालूम पड़ता है। तुझे सिर्फ ज्ञान हो रहा है इतना ही नहीं आचार्य महाराज तो कहते हैं कि, तुझे तेरे ज्ञानदर्पण में जितनी स्वच्छता है उसमें भगवान आत्मा जानने में आ रहा है, परन्तु तू विकल्प के अधिन होने से तुझे वह केवल विकल्परूप राग ही नजर में आ रहा है जबकि भगवानआत्मा जानने में आ रहा है फिर भी तुझे दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। यह परिस्थिति हुई है।

मुमुक्षु :- साँप का भ्रम छूटते ही भय नहीं रहता।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, बिलकुल उसी क्षण भ्रांति छूट जाये। सही ज्ञान होते ही भय छोड़ने के लिये कोई दूसरी प्रक्रिया नहीं करनी पड़ती।

मुमुक्षु :- श्रीगुरु आत्मा का वर्णन करते हैं।

पूज्य भाईश्री :- परन्तु जीव को भासन होना चाहिये न ! भासन होना चाहिये। क्या है ? उसे जो 'श्रीगुरु' कहते हैं ऐसा भासन होना चाहिये। वैसे भी जीव बुद्धिमान व चतुर है। अभी मनुष्य पर्याय में जीव बुद्धिमान व चतुर है, कि फिर बुद्धु है बिलकुल ? अरे ! कोई ऐसे अपने आपको नहीं मानता।

मुमुक्षु :- मतलब की बात तो समझ लेता है।

पूज्य भाईश्री :- मतलब की बात को ऐसी समझ लेता है और मानता है कि मेरा जैसा कोई नहीं समझता। इसकी यह भूल हो रही है और उसकी यह भूल हो रही है। मैं ठीक हूँ ऐसा उसको लगता है। कहते हैं कि, भाई ! तुझे भासन क्यों नहीं होता ?

कल 'श्रीमद्जी' का एक सुंदर बोल पढ़ा कि स्वरूप कब प्रतिभासित होता है ? और कब प्रतिभासित नहीं होता ? इस विषय को २५ वें वर्ष में उन्होंने ३३१ वें (पत्र में) लिया है कि जीव को जो संसार के उदय का प्रसंग है, उसमें भ्रांतिगतरूप से कुछएक प्रसंग जीव को सुखरूप भासित होते हैं। क्या कहते हैं ? वास्तव में जीव को वहाँ सुख का अनुभव नहीं है। ऐसा कौन कहता है ? ज्ञानी परमात्मा कहते हैं कि, वास्तव में जीव को सुख का अनुभव नहीं है। उसवक्त भी जीव को दुःख का ही अनुभव है ऐसा ज्ञानी स्पष्ट देखते हैं जबकि जीव को उसमें वास्तव में सुख लगता है !!

हमारे एक मुमुक्षु थे। उन्हें गन्ना बहुत पसंद था। सर्दी की मौसम में बढ़िया किस्म की, तगड़ा रसयुक्त गन्ना ले आये। फिर उसका छिलका निकालकर छोटे-छोटे टुकड़े काटकर सुबह-सुबह आधा घण्टा-घण्टा बैठे-बैठे चबाते रहे। और कहते थे कि देखो ! यह गन्ना कितना मीठा है। आप कहते हो की ऐसा गन्ना खाने में सुख नहीं परन्तु दुःख है। लेकिन क्या करें इसे खाते हुए तो जो सुख महसूस होता है इसको कैसे न माने ? ठीक ! हमारी चर्चा चली। ठीक गन्ना खाते समय ही उन्होंने यह बात निकाली। खाने के शौकीन थे। विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ के शौकीन थे। खाने में Variety अलग-अलग मिले तो मानो भगवान..! भगवान...! उन्होंने कहा यह गन्ना कितना मजेदार है। टुकड़े कर-करके खाते हैं। खाते हुए आप कहते हो कि दुःख का अनुभव है परन्तु मुझे तो सुख का एहसास हो रहा है इसका क्या ? मैंने कहा, भाई ! यह सब्जी-तरकारी का व्यापार नहीं है कि, भले ही तोल में ज्यादा चला जाये, कोई बात नहीं। तराजू का पलड़ा पूरा बैठ जाये तो भी कोई बात नहीं, जैसे भाजी है तो दे दो ५० ग्राम ज्यादा। यह तो हीरों का व्यापार है। जैसे भाजी का तोल होता

है वैसे हीरों को नहीं तोला जाता। यहाँपर तात्त्विकरूप से सुख-दुःख का स्वरूप समझने की बात है।

आपके स्थूल ज्ञान में, भ्रांतिगत ज्ञान में सुख-सुख दिखता है, जिसे आप सुख के रूप में स्थापित करते हो वैसे पहाड़े, वैसी गिनती यहाँ काम नहीं आती। यहाँ कोई अलौकिक गिनती का विषय है, अलौकिक ज्ञान का विषय है। यह लौकिक ज्ञान का विषय नहीं है। इसलिये आपको अपना स्वरूप भासित नहीं होता है ऐसा कहना है। मुद्दा तो अपना यह सामने है कि 'श्रीगुरु' आत्मस्वरूप दिखा रहे हैं फिर भी, जैसे वह साँप नहीं रस्सी है ऐसा कहते हैं, भले ही कोई कहनेवाला कहे सो कहे। भयग्रस्त जीव को कोई ऐसा कहे कि भाई ! वहाँ रस्सी पड़ी है आप बेवजह भयभीत हो गये, आप खामखाह डर गये, वहाँ साँप नहीं है। संजोगवश ऐसा बन गया हो कि उस रस्सी के एक छोर पर गाँठ मारी हुई हो और दूसरा छोर घिसकर पतला हो गया हो। भय ही भय में फिर से देखने जाये। अबी तो कहनेवाले की बात पर विश्वास न आता हो, कि साँप है या रस्सी ? लगता तो साँप ही है। एक तरफ मुँह है और दूसरी तरफ पूँछ है। ये कहनेवाला झूठ कह रहा है। ठीक ! फिर उसका भय छूटेगा क्या ? उसे भले ही आप सात बार ऐसा कहो कि, भाई ! वहाँ कुछ नहीं है आप जाईये। तो कहेगा, ना भाई ! मुझे ज़हर को परखने का जोखिम नहीं उठाना है। उसका भय नहीं जाता।

उसप्रकार इस जीव को विश्वास और प्रतीति आनी चाहिये न ! 'श्रीगुरु' के वचन पर प्रतीति आनी चाहिये। बहुत प्रकार से कहा है। एक प्रकार से नहीं कहा परन्तु बहुत से प्रकार से कहा है कि, भाई ! तोते की माफ़िक उड़नेकी शक्ति है और फुँकनी को छोड़ दे वह कोई नीचे गिरकर मरनेवाला नहीं है। लटक जाता है न ? उड़ते हुए तोते को पकड़ते हैं वह फुँकनी के द्वारा पकड़ते हैं उसवक्त वह क्या भूलता है ? कि अपनी स्वाधीन उड़ने की शक्ति को भूलता है। वैसे यह जीव बिना किसी के भी जिंदा रह सकता है। अभी भी परिपूर्ण है और अपने अनादि अनन्त शाश्वत जीवन जीने के लिये उसे किसी की आवश्यकता व आधार की जरूरत नहीं है। वह भूलता है। जीव को ज्ञानी के वचन पर विश्वास

नहीं आता है। वह सोचता है ज्ञानी भले ही कहते हो। 'गुरुदेव' जैसे को धूल कहते हैं न ! हम कहाँ कहते हैं - ऐसा एक मुमुक्षु एकबार कहते थे। थोड़े लोभी प्रकृति के थे। कहा कि, ये 'गुरुदेवश्री' जैसे को धूल कहते हैं आप कब तक इस उम्र में भी ममता करते रहोगे ? तो वे बोले, ऐसा तो 'गुरुदेवश्री' कहते हैं न ? मैंने कहा क्या बोलते हो ये आप ? 'गुरुदेवश्री' कहते हैं मतलब आपके लिये कोई मायना नहीं रखती है ? ये क्या बात है ? क्योंकि उसको विश्वास नहीं आता है। इसका मतलब क्या हुआ ? कि, जीव को इसके बिना नहीं चलेगा, ऐसा कहनेवाले को 'श्रीगुरु' पर विश्वास नहीं आ रहा है। वहाँतक जीव को सुखस्वरूप भासित होनेवाले जो संसारी प्रसंग, जिसमें उसको वास्तविक सुख का एहसास है ऐसे भ्रांतिगत सुख के प्रसंग और इसके विभिन्न प्रकार, विभिन्न प्रकार के सुख के प्रकार इसमें उस-उस प्रसंग में जबतक जीव को रुचि वर्तती है... यह इनकी शैली है। मीठापन लगता है कि वाह ! ये मुझे लाभ हुआ, ये मुझे सुख हुआ, ये मुझे अनुकूलता हुई। बस ! ऐसा ही बना रहे। बाहर में ऐसा ही बनता रहे। तबतक जीव को अपना स्वरूप भासित होना असंभवित है। ऐसा लिया है।

अब वाकई अगर जीव स्वरूप प्राप्ति का जिज्ञासु हो तो जहाँ-जहाँ उसे सुख का एहसास हो वहाँ इस विषय में विचार किये बिना रहेगा नहीं। विचार की भूमिका में यह Practice करनी पड़ेगी। Practice करता है। करनी पड़ती है मतलब जिस जीव को उर्ध्वगमन करना है उसे ऐसी Practice चलती है कि, अरे ! जहाँ सुख नहीं है वहाँ सुख का अनुभव क्यों ? इस विषय में उसकी जागृति आती है। इसकी मीठास जो है, इस मीठास में दुःख भरा है। जिसे मीठी छूरी कहते हैं ऐसी यह मीठी छूरी है। जो सुख वर्तता है वह मीठी छूरी है। वास्तव में जीव का गुण इससे कटता है। जीव के सुखगुण का वहाँ छेदन होता है। लेकिन जीवको इसकी क्षणिक मीठास के आगे उसी वक्त जो गुण कट गया इसका ख्याल नहीं रहता।

कहते हैं कि जीव को अपना स्वरूप भासित होना तो असंभवित है। परन्तु सत्संग का माहात्म्य भी तथारूपने

भासित होना असंभवित है। एक के वजाय दो बात लिख दी कि उसे आत्मा का स्वरूप तो भासित होना असंभवित है ही परन्तु जिस संग के निमित्त से, जिस बाह्य संयोग कि जिस पर स्वरूप भासित होने का उपचार लागू हो सकता है ऐसा जो सत्समागम, उसका भी जैसा है वैसा स्वरूप तथारूपने माने ? उसका जैसे है वैसा स्वरूप जीव को भासित होना असंभवित है। उसे सत्संग का माहात्म्य नहीं आता, इसकी कीमत नहीं आती। अनुकूलता हो तो हमें जाना। कोई दूसरा काम आ पड़े तो क्या करे ? क्रम में आखिरी क्रम देकर बैठा हों, फिर ऐसा कहते हैं कि, हमें क्यों भासित नहीं होता है ? भाई ! तुझे भासित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जिस सत्समागम के योग में तुझे स्वरूप भासित होने का अवकाश है इसकी भी तुझे कीमत नहीं आयेगी। आत्मा का स्वरूप भासित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। तुझे अंतर में उपादान भासित नहीं होगा, बाहर में निमित्त भी भासित नहीं होगा। दोमें से एक की भी कीमत तुझे नहीं आयेगी। ऐसा लिया है। यह असंभवित है।

अतः जबतक ऐसी संसारगत प्रीति, असंसारगत प्रीति को प्राप्त न हो,... संसार में जिसका स्थान नहीं है ऐसा जो सत्संग व सत्स्वरूप इसकी जबतक बहुत कीमत, पूरी कीमत, अपूर्व कीमत न आये तबतक खचित् रूप से, निरपवाद रूप से, अप्रमत्तरूप से वारंवार पुरुषार्थ का स्वीकार करना योग्य है। तब अपनी विचार की भूमिका में ऐसी प्रीति तोड़ने का जीव को पुरुषार्थ करना चाहिये। यह प्रथम पुरुषार्थ यहीं से शुरू होता है।

यह बात तीनोंकाल में अविस्मयारूप जानकर इसमें कोई अपेक्षा लगाकर उलटा-सुलटा करने की जरूरत नहीं है। तीनोंकाल सिद्धांतरूप है। अविस्मयारूप है मतलब तीनोंकाल अफर सिद्धांतरूप जानकर। यानी कि जिस किसी भी जीव को संसार से छूटने की शुरुआत होती है उसकी इसीप्रकार होती है। तीनोंकाल में। भूतकाल में अनन्त हुए, भविष्यकाल में अनन्त होंगे, सब की यही स्थिति है। अविस्मय जानकर निष्कामरूप से लिखी है। हमें कोई स्पृहा नहीं है और किसी कारणवश लिखी है ऐसा है नहीं। किसी भी प्रकार की, किसी के प्रति कोई इच्छा नहीं है और लिखी है। ऐसा है।

क्यों भासित नहीं होता ? 'श्रीगुरु' कहते हैं कि उसे प्रीति-रुचि वर्तती है, मीठापन लगता है, सुख लगता है। जहाँ भ्राँति है और दुःख है वहाँ भ्राँति में ही जीव को दुःख में सुख लगता है और उसमें इसकी मीठास है। सिर्फ सुख लगता है इतना ही नहीं वह सुख मीठा लगता है। बस ! फिर तो रेशम की डोरी और उस पर तेल की बूंद। रेशम की डोरी की गाँठ पर तेल की बूंद डाल। चिकनाहट कर दी। इसकी मीठास है न ? वह इसका चिकनापन है। वह गाँठ फिर आसानी से नहीं खुलती। ऐसी परिस्थिति आती है। अतः जीवको अपना स्वरूप भासित नहीं हो पाता है। वीतरागस्वरूपी जो आत्मा, परिपूर्ण वीतरागस्वरूप है। पूर्ण वीतरागता का बिंब है। जीव को चाहे कैसे भी मैं वैसा हूँ यह भासित होना संभवित नहीं है। ऐसा प्रकार ही नहीं आता।

यहाँ 'गुरुदेवश्री' अपनी भाषा में वही बात कहते हैं कि, 'राग के विकल्प के वश होने से...' है। मीठापन लगता है मतलब जीव इसके वश हुआ है। अतः 'उसकी नज़र में...' एकाकाररूप से राग ही उसे नज़र में आता है। जीव को नज़र में भगवान आत्मा 'अनुभूत होते हुए भी जानने में नहीं आता।' यह परिस्थिति है। केवल राग ही नज़र में एकाकाररूप से आता है जबकि भगवानआत्मा जानने में आने पर जानने में नहीं आता है। क्योंकि जो ज्ञान है, उस ज्ञान में ज्ञान का जानना तो है ही। ज्ञान कभी भी स्व-परप्रकाशत्व को छोड़ता नहीं है अतः ज्ञान में ज्ञान का जानना तो हो ही रहा है। परन्तु एकाकाररूप से ज्ञेयाश्रितपने परिणमन चलता होने से जानने में आने पर भी जैसे जानने में नहीं आता है। वहाँ से निवृत्त होकर, परज्ञेय से व्यावृत्त होकर और परज्ञेय से उपयोग को निवृत्त करके ज्ञान का जानना हो रहा है यह जब जीव के अवलोकन में आये तब उसके परिणमन की दिशा बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुख हो जाती है।

अंतर्मुख होना उसमें विचार करना सो बात नहीं है कि, यह अंतर्मुख कैसे हो ? अंतर्मुख ऐसे होना। स्वसन्मुख ऐसे होना। अंतर्मुख कैसे होना यह विचार का सवाल नहीं है। विचार है सो तो एक वस्तु के स्वरूप सम्बन्धित मंथन है। विचार है सो क्या है ? क्यों है

और क्यों नहीं है ? इसे विचार में लेना यह एक वस्तु के स्वरूप विषयक मंथन है।

यहाँ तुझे ऐसा कहा कि तू ज्ञानस्वरूप है। रागादि स्वरूप तू नहीं। राग में अहंपने का अनुभव तेरा मिथ्या अनुभव है। तू मात्र ज्ञानस्वरूप है ऐसा जो कहा, तो अब तुझे इस बात का प्रथम स्वीकार करके-बुद्धि से स्वीकार करके, अब हकीकत में ऐसा है कि नहीं ? इसके अवलोकन में तुझे जाना चाहिये। यह बात बुद्धिपूर्वक स्वीकार करनी होगी कि राग है सो वही का वही नहीं रहता। भले ही राग धारावाहीरूप से चलता हो परन्तु राग वही का वही नहीं होता।

जैसे कि एक लड्डू मिठाई खाने का राग हुआ, एक और दो (खाये) जीतनी भूख थी इतनी पूर्ति हो गई। यानी की जठर के परमाणुओं की उष्णता शांत हो गई, तब ऐसा राग करेगा कि, अब नहीं। अरे ! भाई आपको तो बहुत पसंद है न ! और दो-चार दबा लो। भाईसाहब ! अब नहीं। लेकिन इसमें क्या एतराज है ? तो कहेगा कि भाता तो है लेकिन पेट ना दे रहा है। क्या कहेगा ? अरे ! भले ही पेट ना कहता हो। आप बिन्दास खाईये न ! अरे ! अब Vomit हो जायेगी ऐसा कहने लगेगा। आखरी अंजाम क्या आया इसका ? अब अगर एक टुकड़ा भी खाया तो अब तक जितना खाया है न सब बाहर आ जायेगा। अंदर से बाहर आ जायेगा। तब फिर उसे भूखे तो नहीं रहती परन्तु राग भी नहीं रहता है। क्योंकि राग है वह जीव का स्वरूप नहीं है। भले ही चाहे कैसे भी एकत्व की मीठास द्वारा उसे उदयकाल में वेदन किया हो तो भी वह जीव का स्वरूप नहीं है यह सुनिश्चित होता है। जब ज्ञान का प्रवाह, ज्ञान जाननेरूप प्रवाह में जानना... जानना... जानना... जानना... ऐसा जो ज्ञान का प्रवाह है वह अविरतरूप से टूटे बिना, कहीं भी टूटे बिना सहजरूप से वह प्रवाह चालू रहता है। बुद्धि से यह समझ सके ऐसा विषय है।

अब जीव को इतना ही अवलोकन में लेना रहता है, अब विचार में मंथन को शांतकर के। स्वसन्मुख होना है न ? तो वास्तव में तो स्वसन्मुख होना यह करवट बदलने जितना आसान है। जैसे कोई मनुष्य सीधा सोया हो वह आसानी से करवट बदलता है उसमें उसे कोई

परिश्रम नहीं लगता। सहजरूप से करवट बदलता है। ऐसा ज्ञान के अवलोकन में मालूम हो, ज्ञान में ज्ञान जानने में आता है, ज्ञान में भगवान आत्मा जानने में आता है ऐसा जब आचार्य भगवान कहते हैं तो वास्तव में वह जानने में आ रहा है कि नहीं इतना देखो तो सही। उन्होंने ऐसा तो नहीं कहा है कि नहीं जानने में आता है फिर भी तू जान। ऐसा नहीं कहा है। जब तो ऐसा लगे कि नहीं जानने में आता है उसे कैसे जाने ?

यहाँ तो कहते हैं कि, तुझे जानने में आता है लेकिन तेरा लक्ष्य व तेरा ध्यान अन्यत्र है, इसलिये तुझे जानने में नहीं आ रहा है। वरना तो तुझे जानने में आ ही रहा है। अतः केवल अवलोकन में आ जा कि जिसकी अवलोकना से परमेश्वर पद हाथ लगता है। लीजिये, सीधा अनन्त ज्ञान की खान का पता लग जाता है कि यह ज्ञानस्वरूप है इतना ही नहीं इसमें तो अनन्त ज्ञान भरा है। जो प्रथम भास्यमान होता है उसमें सीधी पूरी खान का पता लगता है। अवस्था में भले ही उसका Sample है, गाड़े हुए चरु का काँटा दिखता है कि पूरा चरु दिखता है ? तो कहनेवाले ने कहा भाई ! ज्यादा गहराई तक नहीं जाना है। एक छः इंच जितनी खुदाई करोगे कि तुझे चरु हाथ लग जायेगा। अब पहले छः इंच खुदाई करते समय किसी एक जगह कुदाल का प्रहार किया। पूरा चरु दिख जाये ऐसा प्रहार एकसाथ तो नहीं होता। तब उसे काँटा दिखता है। कोई पूछेगा कि आपको क्या दिखा ? तो कहेगा चरु दिखा। चरु दिखा है या अभीतो केवल काँटा दिखा है न ! कि काँटे में पूरा चरु दिख गया। क्या दिखा ? ऐसा है। वहाँ कोई ऐसा कुतर्क नहीं करता कि, नहीं... नहीं... ऐसे कैसे मान लूँ ? मुझे तो अभी सिर्फ काँटा दिखा है। अभी कहाँ पूरा चरु दिखा है। यहाँ ऐसी पक्कड़ करता है कि मैं तो सिर्फ अंश को जानता हूँ। लेकिन वास्तव में उसे अंश का भी पता नहीं है और अंशी का भी पता नहीं है।

कहते हैं कि, ज्ञान ज्ञान को जानता है ऐसे ज्यों ज्ञान जाननेरूप अवलोकन में आता है तब उसे स्वसंवेदन होने का, वेदन से प्रसिद्ध होने का, आत्मा वेदन से प्रसिद्ध होने का जीव को प्रथम प्रतिभास आता है और तब उसका

ज्ञानबल जो है वह जागृत होता है। सर्वप्रथम ज्ञानबल वहीं से प्रकट होता है कि, अरे...! आत्मा वेदन का पिण्ड है, अनन्त ज्ञान और अनन्त स्वसंवेदन स्वभाव आत्मा के स्वरूप में लबालब भरा है। इतना बड़ा ज्ञान का समुद्र होने पर भी मैं मुँह घूमाकर बाहर में कुतूहल करता था कि मुझे कहीं से ज्ञान की वृद्धि हो, पर्यटन करूँ तो ज्ञानवृद्धि होगी, देश-परदेश जाऊँ तो मेरी ज्ञानवृद्धि होगी, अनेकबार अनेक प्रकार के पदार्थों का अभ्यास करूँ तो ज्ञानवृद्धि होगी, पुस्तकें पढ़ूँ तो ज्ञानवृद्धि होगी और प्रवचन सुनने से ज्ञानवृद्धि होगी। ये सबकुछ ज्ञान के समुद्र से विमुख होकर अनंत-अनंत प्रकार से किया परन्तु इससे ज्ञान बढ़ा नहीं।

‘अज्ञानी अनादि से..’ ज्यादा से ज्यादा जीव क्या करता है ? कि, धर्म के क्षेत्र में दाखिल होता है। कोई न कोई संप्रदाय में उसका जन्म होता है। पूर्व के शुभभाव अनुसार अपने-अपने संप्रदाय का जीव को ममत्वरूप लगाव होता है। ‘गुरुदेवश्री’ ‘बहिनश्री’ महाविदेहमें से यहाँ स्थानकवासी में आये। वहाँ कोई ऐसी चर्चा चली होगी कि जिसके फल में यहाँ स्थानकवासी संप्रदाय में जन्म हो गया। वस्त्रसहित साधुपने का या वस्त्रसहितदशा में ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा को सम्मत कर लिया था जिसके फल में यहाँ वस्त्रसहित साधु के संप्रदाय में जन्म हो गया। अब जन्म के पश्चात् सात-आठ साल की उम्र तक तो कोई प्रयोजन का विषय इस धर्म के संदर्भ में समझ में नहीं आता है। चाहे सज्ञीपंचेन्द्रिय हो तो भी आठ साल तक तो कोई धार्मिक प्रयोजन का विषय समझ सके उतना ज्ञान का परिणमन सूक्ष्म नहीं होता। सम्यक्दर्शन प्राप्त हो तो अलग बात है। उन्हें तो माता के गर्भ में भी भेदज्ञान चालू रहता है। उनके लिये वह बात लागू नहीं पड़ती। पूर्वभव से सम्यक्दर्शन लेकर साधकजीव आता है। मनुष्यदेह से मनुष्य होता है न ? उनके लिये तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यहाँ आठ साल तक का प्रतिबंध नहीं है। यह तो मिथ्या दृष्टि हो तब की बात है। फिर तो जिस संप्रदाय में जन्म हो वहीं पर जाना-आना होता है। उनको संस्कार भी यही दिये जाते हैं कि, देख ये भगवान है, इनका दर्शन कर। फिर वैष्णव होगा तो उसके मंदिर में जायगा, कि देख। ये हमारे भगवान है इन्हें

नमस्कार करो। ये हमारे गुरु हैं। संप्रदाय में कोई न कोई गुरु होंगे उनके पास जाते हैं कि ये हमारे गुरु हैं, इन्हें वंदन नमस्कार करो। वहाँ उनसे कैसे शंका होगी कि, ये गुरु सच में होंगे कि नहीं, ये देव सच में होंगे कि नहीं? क्योंकि वह जो भाव लेकर आया है, उसी भाव की अधिक पुष्टि हो वैसा उदय आता है उसको। जिस भावसे उसने कर्म निबंधन किया है, उसी भाव की पुष्टि हो ऐसा सामने उदय आता है। फिर उसे शंका होगी कहाँ से? अपने भूतकाल का हरकोई अगर विचार करे तो समझ सके ऐसा है। कि शंका नहीं उठी होती है। ऐसी परिस्थिति से बाहर निकलना जरा मुश्किल पड़ता है। ये सही कहते हैं या नहीं? वहाँ प्रायः जीव ऐसे ही लेता है कि, मेरे से ये अधिक जानते हैं। गुरु हैं सो तो मेरे से आगे है। उनकी बात में शंका कैसे करे? जो भी संप्रदाय के शास्त्र जिन्होंने लिखे वे तो मेरे से काफ़ी बुद्धिवान लोगों ने लिखे हैं इसके आगे मेरा क्या बूता? इसलिये वह उनका अनुसरण करने लगता है। पहले से ही Interiority में आकर अनुसरण करने लग जाते हैं। कोई ऐसे असाधारण विचार से ही जीव उसमें से बाहर निकल पाता है। साधारण विचार से तो बाहर निकलना संभव नहीं है। ऐसा विषय है।

ऐसे में धर्म के क्षेत्र में जाकर जीव प्रायः क्या करता है? कि दया-दान आदि के राग को करता है। जहाँ जिस प्रकार के शुभभाव के बाह्य क्रियाकाण्ड हो उस क्रियाकाण्ड में शामिल हो जाता है और वैसे शुभभाव का अनुसरण करने लग जाता है। तब वह मानता है कि मैं धर्म कर रहा हूँ। मैं आत्मा के कल्याण के लिये कुछ प्रवृत्ति करता हूँ। वास्तव में उसवक्त वह मिथ्यात्व को ही दृढ़ करता है। यह परिस्थिति है।

कहते हैं कि, 'अज्ञानी अनादि से दया-दान आदि विकल्पों का गुलाम होने से ज्ञान की वर्तमान दशा में अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा अनुभूत होने पर भी उसे जानने में नहीं आता।' यह तो एक पहलू प्रकाशित किया है कि जीव को वास्तव में ज्ञान में ज्ञानवेदन वर्तता होने पर भी और ज्ञान में ज्ञानवेदन का छूटना कतई संभव न होने पर भी, छूटना ही अशक्य है, फिर भी वह विकल्प के अधिन होकर, दया-दान आदि राग

के विकल्प को ही धर्म का स्वरूप स्वीकार करके 'वर्तमान दशा में अनुभूतिस्वरूप भगवानआत्मा अनुभूत होने पर...' अनुभव में आता है। क्यों अनुभव में आता है? कि, अनुभूतिस्वरूप होने से अनुभूति में आ रहा है।

कभी कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। विज्ञान का यह सिद्धांत है कि कभी कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। अगर पदार्थ अपने स्वरूप का त्याग कर दे तो पदार्थ का ही नाश हो जाये, पदार्थ शून्य हो जाये। परन्तु कतई किसी भी पदार्थ का सर्वनाश हो ऐसा नहीं बनता। रूपांतर अवश्य होता है परन्तु सर्वनाश हो ऐसा कभी नहीं बनता।

यहाँ कहते हैं कि भगवानआत्मा तो अनुभूतिस्वरूप है। अनुभव करना इसका स्वरूप है। बाहर में भी क्या कहते हैं? कि मुझे ठण्ड का अनुभव हुआ। ये ठण्ड के दिनों में क्या कहेगा? कि, मुझे ठण्ड का अनुभव हुआ। गर्मी के दिनों में ऐसा कहेगा कि मुझे गर्मी का अनुभव हुआ। अब ठण्ड और गर्मी ये तो अनुभव की विशेषता है। अनुभव दोनों में सामान्य है। अगर सामान्य-विशेष के विभाग का विचार किया जाये तो ठण्डापना, उष्णपना ये तो अनुभव की विशिष्टताएँ हुईं। परन्तु इन तमाम प्रकार के अनुभव में अनुभव सामान्य है। इस अनुभव से जीव कभी अनुभवविहीन नहीं होता, कभी कोई जीव अनुभवविहीन नहीं होता, अनुभव रहित नहीं होता इसका कारण यह है कि स्वयं अनुभूति स्वरूप है। अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, अनुभूति का ही पिण्ड होने से अनुभव के बिना नहीं होता। बस !

यहाँ उपदेश इतना ही है कि तू विशेष को गौण कर और सामान्य को मुख्य कर। शास्त्र परिभाषा में इसे यों कह सकते हैं कि सामान्य का आविर्भाव कर और विशेष का तिरोभाव कर। यह शास्त्र परिभाषा है। व्यवहारिक भाषा में कहे तो इन विशिष्टताओं को तू गौण कर, और अनुभव... अनुभव... अनुभव... अनुभव... अनुभव... जो सामान्य अनुभव है उसे मुख्य कर तो तुझे पूरा आत्मा अनुभूति का पिण्ड है ऐसा जानने मिलेगा। और उसमें अनुभूति का अनुभव... अनुभूति का अनुभव... मूल में तो अनुभूति का अनुभव है। ऐसे अनुभूतिस्वरूप तुझे अनुभवगोचर होगा। उसे ही आत्मानुभव कहते हैं, उसे

ही स्वसन्मुखता कहते हैं, उसे ही अंतर्मुखता कहते हैं। दूसरा कुछ नहीं।

ज्ञान ज्ञान के अनुभव को अवलोकन में लेता है तब अनुभव का आविर्भाव होता है, अनुभूत भाव का अनुभूतिरूप अनुभूतभाव का आविर्भाव होता है यानी कि अनुभूति की तारतम्यता बढ़े तब उसे स्वसंवेदन या अंतर्मुखता कहते हैं। इतना है।

फिरसे, ज्ञान ज्ञान के अनुभव में है। ज्ञान ज्ञान के अनुभव में रहता ही है, वर्तता है, प्रवाह उसका चालू ही है। इसके अवलोकन में आये तब उसे अंतर्मुखता हुई ऐसा कहने में आता है। क्योंकि उस वक्त जिस ज्ञानको, ज्ञान के वेदन की तारतम्यता बढ़ती है। तारतम्यता बढ़ने पर वह स्पष्टरूप से, प्रगटरूप से, प्रत्यक्षरूप से उसे वेदनगोचर होता है, ऐसी जो अनुभूति की कला है, जो अंदरुनी कार्य की कला सिर्फ करवट बदलने जैसी है। यह १७-१८ गाथा का विषय है। बहुत आसान, सबसे आसान उपाय, पूरे समयसारजी में उपाय कहीं दरशाया है तो वह इस एक जगह है। ४१५ गाथा में १७-१८वीं गाथा में अनुभव के विषय को सरल और सुगम अगर कहीं किया है तो यहाँ किया है।

भाई ! आबाल-गोपाल को अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आ रहा है। तनिक करवट बदलकर अवलोकन तो कर ! तेरे ज्ञान में धीरज-धैर्य लाकर, थोड़ा सावधान होकर देख तो सही कि, तू तो अनुभूति का पिण्ड ही है, तुझे धारावाहीरूप से अनुभव हो ही रहा है, तेरा अनुभव कभी बंद नहीं होता। अरे ! बंद कर भी नहीं सकते। क्योंकि अनुभव को बंद भी नहीं कर सकते। वहाँ फिर अनुभव करने का प्रश्न ही नहीं उठता? यह अनेकविध परपदार्थों का अनुभव है। उसे मुख्य किया है इतनी ही तुझे इस विषय में तकलीफ है। तुझे इस विषय में तकलीफ है तो इतनी ही है कि तूने अनेकविध विषय के अनुभव को मुख्य किया है। परन्तु अनुभव सामान्य को तुने देखने का, अवलोकन करने का भी प्रयास नहीं किया है - प्रयत्न भी नहीं किया है, उस दिशा में प्रयत्न नहीं किया है। ऐसा जो सामान्य के अनुभव को अवलोकन में लेने का प्रयास वह अंतर्मुख की दिशा का प्रयास है। ऐसा अंतर्मुख की दिशा का अगर जीव प्रयास करे तो

सहजरूप से, सुगमरूप से उसका अनुभव आविर्भूत होकर, अनुभवगोचर होता है कि जो अभी तिरोभूतरूप से अनुभवगोचर हो रहा है। वह आविर्भूत होकर अनुभवगोचर होता है। नया होता है सो बात नहीं है, तारतम्यता बढ़ती है।

आदमी बेहोश होता है तब क्या होता है ? Operation देखने की हिम्मत की हो, और तब धूरे से काटने पर रक्त का बहाव देखते ही एक सेकण्ड में देखनेवाला चक्कर खाकर गिर पड़ता है। अब उसे पता नहीं रहता। क्या हो रहा है ? उसवक्त ऐसा देखने पर इसका कितना तीव्र निषेध वर्तता है उसका पता नहीं होता है। इसलिये बस ! 'ऐसा न हो' ऐसा जोर से लगता है। 'ऐसा न हो' यह भाव उसे चलता है। एक सेकण्ड में 'ऐसा न हो' होते ही मूर्छा आ जाती है। तब उसका तिरोभूत रहा भाव आविर्भूत हो जाता है, और कुछ नहीं होता। इतनी ही देर लगती है। कोई ऐसा कहे कि ऐसे आविर्भूत होने में देर लगती होगी ? कि, इतनी ही देर लगती है। तिरोभूत रहे हुए भाव को आविर्भूत होने में बिलकूल देर नहीं लगती है। करवट बदलने जितनी देर लगती है। एक सेकण्ड में जैसे भीतर में तारतम्यता बढ़ जाती है, जो कि द्वेषभाव है। 'ऐसा न हो' - वह इसका द्वेषभाव है। वह द्वेष तब तीव्र हो जाता है। एकदम तारतम्यता उसकी बढ़ जाती है। था तो सही। राग में ही द्वेष गर्भितरूप से निहित है। जब जीव को शरीर का राग है, तब ही इसके अंदर गर्भितरूप से द्वेष भरा पड़ा है। वे तो एक ही सिक्के की दो बाजू हैं। वह सीधा बाहर आ जाता है। बाहर आ जाता है मतलब स्थूलता का रूप ले लेता है। उग्र हो जाता है, तारतम्यता विशेषरूप हो जाता है।

ऐसे ही वेदन जो भीतर में बिलकुल तिरोभूत होकर चल रहा है वह अवलोकन में आते ही वह वेदन की प्रक्रिया में तारतम्यवृद्धि होकर जीव को स्वसंवेदन का अवसर प्राप्त हो जाता है। जिसे प्रगट आत्मानुभव कहते हैं।

यहाँ तो एक पहलू लिया है, कि किस प्रकार जीव उसे नहीं जानता है। जीव स्वयं (विकल्प) के वश वर्तता है इसलिये जानने में नहीं आता है। यह १३१ वा बोल (पूरा हुआ)।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-३३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.१०-८-१९९१

कल जो चर्चा चली उसमें जो पाँचवाँ बोल है उस पर फिरसे चर्चा लें।

मुमुक्षु :- चौथे बोलकी आखरी पंक्ति फिरसे लें।

पूज्य भाईश्री :- 'जैसे कि मात्र परिणाम देखनेवालेको प्रवृत्तिकी मुख्यता दिखती है।' क्या (कहना) है ? यहाँ धर्मी और अधर्मी दोनोंकी बात एकसाथ की है - जिसे समीक्षा कहा जाता है। धर्मीको शुद्ध तत्त्वकी - शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि होनेसे वह दूसरे धर्मी जीवके भी सिर्फ परिणाम व प्रवृत्ति नहीं देखता। सामान्यतया संसारी जीव पर्यायमूढ़ होनेसे (यानी कि) पर्यायाश्रित परिणामन करता होनेसे अपनेमें भी सिर्फ परिणामको ही देखता है व दूसरेके भी सिर्फ परिणाम ही देखता है। खुदके जैसे परिणाम हो वैसा मैं, राग होता हो तो रागरूप मैं (ऐसे ही देखता है)। वैसे ही दूसरेको राग होता हो तो उसे वह भी रागरूप पूरा आत्मा, मैं भी पूरा रागमय आत्मा और वह भी पूरा रागमय आत्मा। ऐसी जो मुख्यता होती है वह धर्मीको नहीं होती। धर्मीकी दृष्टि ऐसी नहीं होती। दूसरे धर्मीको देखनेकी दृष्टि भी ऐसी नहीं होती। उन्हें - धर्मीको दूसरे धर्मीके बारेमें पता चल जाता है कि, इनके परिणाम अलिप्त रहते हैं (अर्थात्) भिन्न रहते हैं। ये अपने आत्माको रागसे भिन्न करते हैं। प्रतिसमयके परिणामनमें जो राग चल रहा है उससे अपने आत्माको भिन्न कर रहे हैं, और इसप्रकार वे तैर रहे हैं, तिरते जाते हैं। खुदको अलग करते जाते हैं। ऐसी (एक) धर्मीको दूसरे धर्मीकी खबर रहती है। जब कि अधर्मी है वह ज्ञानीके सिर्फ परिणाम ही देखता है और उसमें भी बाहर दिखते हो वैसे - राग और रागकी चेष्टाएँ। जैसी जिसकी दृष्टि हो, इस तरह अपने नापसे दूसरोंका नाप करता है। धर्मी, धर्मीकी तरह नापते हैं (और) अधर्मी,

अधर्मीकी तरह नाप करता है। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ज्ञानीकी तैरनेकी कला देखनेका दृष्टिकोण खयालमें आना चाहिए।



पूज्य भाईश्री :- यह खयालमें आना चाहिए कि, ये तैर रहे हैं। रागसे भिन्न तैर रहे हैं। दृष्टांत भी ऐसा ही है। पानीमें तैरते हैं कि नहीं ? पानीमें तैरनेवाला पानीका स्पर्श करके भी तैरता है, डूब नहीं जाता, कि पानीसे बाहर तैरता है ? पानीको स्पर्श करते हुए पानीमें तैरता है, डूबता नहीं। उसे पानीका भय नहीं है, वह डूबनेवाला नहीं। तैरता है इसलिए डूबेगा नहीं। वैसे संसारमें (रहते हुए ज्ञानी) भले ही संसारके स्पर्शमें दिखते हो, संसारके मध्यमें दिखते हों, परंतु वे तैर रहे हैं। उन्हें संसारमें डूबनेका भय नहीं होता, सीधी-सी बात है। भय नहीं है क्योंकि डूबते नहीं - तरते हैं। वहाँ (दृष्टांतमें) पानी पर तैरते हैं वैसे यहाँ (संसारसे) ऊपर तरते हैं, भिन्न रहकर तरते हैं। उन्हें कोई तकलीफ नहीं है।

पाँचवें मुद्देमें यह बात है कि, धर्मी, अधर्मीका जो ज्ञान करते हैं उसमें मुख्य बात वे इतनी ही देखते हैं कि, जिस जीवको अपने त्रिकाली स्वरूपका अभान हो - भान न हो, उसे तो कब कौन-सा दोष होगा, इसका ठिकाना ही कहाँसे रहेगा। अतः उसका मुख्य दोष यह है कि, उसने अपने स्वरूपका भान नहीं किया। दूसरा क्या दोष है और कितना दोष है, यह बात (इतनी) मुख्य नहीं है। उसे भान नहीं है, यही मुख्य बात है।

श्रीमद्जीने २५४ पत्रमें इससे भी थोड़ी और गहराईमें जाकर बात की है। वरना मुमुक्षु यों कहेगा, उसे बचाव करनेका भाव आयेगा कि, क्या करें ? हमें तो अनादिसे भान नहीं है। इसे हमारा दोष

कहो चाहे जो भी आप कहो परंतु अनादिसे भान नहीं है, यह एक हकीकत तो अनादिसे चली ही आ रही है। यह परिस्थिति चालू ही है, हकीकत यह है कि अनादिसे इस जीवको अपना भान नहीं हुआ, क्या करें ? अनादिसे (भान) नहीं है इसका क्या करें ? तब श्रीमद्जीने थोड़ी गहराईमें जाकर कहा कि, दोष भले ही अनंत प्रकारके हो, प्रकृतिजनित दोषमें जिस-जिस प्रकृतिका उदय हो उस प्रकृतिका दोष जीव करता है परंतु सबसे बड़ा दोष यह है कि, उसने मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं की। देखो ! थोड़ी गहराईमें जाकर बात की है। (उन्होंने तो वहाँ) उस प्रकरणको ही हाथमें लिया है, यहाँ कोई यह प्रकरण नहीं है। यहाँ तो ज्ञानीका प्रश्न चला है, जिसमेंसे दूसरे पहलू खुल रहे हैं। यहाँ वह प्रकरण नहीं है। उन्होंने तो वह प्रकरण हाथमें लिया है। मुमुक्षुको कहाँसे प्रारंभ करके कैसे आगे बढ़ना चाहिए (यह प्रकरण है)। तो कहते हैं कि जीवका सबसे बड़ा दोष यही है कि, उसने मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं की। यह सबसे बड़ा दोष है। मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं की इसका अर्थ क्या ? कि, उसने सहीरूपसे अंतरसे मुझे मेरा पूरा कल्याण कर लेना है, बिलकुल दुःखी न होऊँ, ऐसी एक पूर्ण शुद्धिकी मुझे तैयारी करनी है, मुझे पूर्ण शुद्ध होना है, मुझे इस संसारका जन्म-मरणरूप परिभ्रमण नहीं चाहिए, ऐसी शुद्ध अंतःकरणसे तैयारी नहीं की, भावना नहीं की, मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं की, यह उसका सबसे बड़ा दोष है। अगर मुमुक्षुतामें आये तो आत्माके भानमें आये बिना रहे नहीं। तो (यहाँ) जो कहते हैं वह दोष मिट जाये। क्योंकि दोष होनेका एक ही कारण है कि, अपने निर्दोष स्वरूपका बेभानपना होनेके कारण जीव कब कौन-सा दोष करेगा, इसका कोई नियम नहीं रहेगा। आज जिनमंदिरमें जाता है कल वही (जीव) मस्जिदमें जाता दिखाई देगा ! उसको खुदको पता नहीं रहेगा। मैं कहाँ जा रहा हूँ ! (यह) उसे पता

तक नहीं रहेगा।

यह अखबारमें आता ही है न ! ये ताजिया निकालते हैं उसके नीचेसे निकलते हैं कि नहीं ? उसमें जैन होते हैं। उसमें कहने मात्र जैन होते हैं। ताजिया लेकर निकलते हैं कि नहीं ? फिर चाहे मस्जिदमें जाये या ताजियाके नीचेसे गुजरे, इसमें क्या फर्क रहा ? वह मस्जिदके आकारका ही होता है, और दूसरा कुछ नहीं। फिर ये अखबारवाले छाप देते हैं, हिन्दू-मुस्लिमकी ऐक्यता ! इस गाँवमें हिन्दू-मुस्लिमकी एकताके दर्शन होते थे। हिन्दू लोग ताजियाके नीचेसे निकले, इसलिए ऐसा (लिख देते हैं)। अब वे क्यों ऐसा लिखते हैं ? कि उसके अखबारकी खपत बढ़े इसलिए। लोगोंको अच्छा लगे और दो ग्राहक बढ़े। देखो ! पैसेके लिए कितना अनुमोदन करते हैं !! अपने धंधेके खातिर वे धर्ममें भी कैसा अनुमोदन कर लेते हैं ! उन्हें पता नहीं कि, कौन-सा दोष होता है !! ऐसा (होता) है। भान भूले हुए को कब क्या होगा उनका पता ही नहीं रहता। उनका जो सांसारिक प्रयोजन है, उस प्रयोजनके लिए जीव कब, कितने पैमानेमें दोष कर लेगा इसका कोई नियम नहीं रहता।

धर्मीको ऐसा ज्ञान होता है कि, 'त्रिकालीका अभान होनेसे अधर्मीको परिणाम मात्रमें एकत्व होता है,...' (अर्थात्) प्रत्येक परिणाममें जो कषाय है - राग है उसके साथ एकत्व होता है, वहाँ उसे तीव्र रस आता है। एकत्वबुद्धिके कारण रागका रस तीव्र होता है। धर्मी उसका ज्ञान करते हैं। उसके अन्य दोषका ज्ञान नहीं करते (परंतु) मूल दोषका ज्ञान करते हैं। यह धर्मीकी नजरमें क्या होता है (इसकी बात करते हैं)। उसने इतना बड़ा दोष किया उसे नहीं देखेंगे। परंतु वह भान भूला है न ! फिर क्या होवे ? भान भूलनेके पश्चात् चाहे कुछ भी करे, इसका कोई नियमन नहीं रहेगा।
मुमुक्षु :- आज मंदिर बनायेगा तो कल

तोड़ेगा।

पूज्य भाईश्री :- (हाँ) आज मंदिर बना रहा है, कल तोड़नेके लिए तैयार हो जाएगा। मंदिर तोड़ देगा, देर नहीं लगेगी। परिणामको पलटा खानेमें देर नहीं लगेगी। यह परिस्थिति आ जाएगी।

मुमुक्षु :- दोषके कारणको पकड़ना चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- मूलको पकड़ना चाहिए। मूल यह है - परिणाममें एकत्व किया वह मूल (कारण) है। (कोई) एक समयके ज्ञानके क्षयोपशममें एकत्व करता है, या (कोई) एक समयके रागकी पर्यायमें एकत्व करता है, दोनों कर्मजनित पर्यायोंमें एकत्व करते हैं। दोनों एक-से हैं। रागमें और कषायमें

एकत्व करता है वह ज्यादा खराब धंधा है और एक समयकी क्षयोपशम (ज्ञानकी पर्यायमें) एकत्व करनेवाला कम खराब है, ऐसा नहीं है। शायद वह ज्यादा खराब है। (रागमें एकत्व करनेवाला उस दोषमेंसे) निकलेगा (परंतु) यह (क्षयोपशमज्ञानमें एकत्व करनेवाला) नहीं निकल सकेगा।

गुरुदेव शुभ पर क्यों अधिक प्रहार करते थे ? (क्योंकि जीव) अशुभसे तो निकल जायेगा। सामान्य बुद्धिमें भी आदमीको पता चलता है कि अशुभमें पाप होता है। परंतु शुभमें धर्म होता है, यहाँसे नहीं निकल सकता।

विशेष सूचना

सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई की परम कृपा के फलस्वरूप स्वानुभूतिप्रकाश नामक आध्यात्मिक मासिक पत्रिका गुजराती में २२०० नकल एवं हिन्दी में ६२०० नकल प्रकाशित हो रही है। स्वाध्याय प्रेमीओं के पारमार्थिक उपकार दर्शाते हुए अनेक पत्र प्राप्त होते हैं। यह पत्रिका संस्था द्वारा स्वाध्याय हेतु पिछले चौदह वर्ष से निःशुल्क भेजी जा रही है। अगर कोई भी कारण से इसका स्वाध्याय नहीं कर सकते हो या आपको एक से अधिक कोपी प्राप्त हो रही हो और किसी कारणवशात् आप नहीं मंगवाना चाहते हो तो आपका ग्राहक नंबर या स्टीकर-रेपर संस्था के कार्यालय पर भेजने की कृपा करें।

ट्रस्टीगण, श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर

संपर्क :- श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर - ३६४००१

नवीन प्रकाशन

पूज्य भाईश्री की जन्मजयंती प्रसंग पर राजहृदय भाग-५ (गुजराती) में प्रकाशित किया गया है। वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर द्वारा कुछ ही समय में 'बहिनश्री के वचनामृत' ग्रंथ पर चले हुए पूज्य भाईश्री शशीभाई के धारावाही प्रवचन 'अध्यात्म सुधा भाग-६' तथा 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ पर चले हुए धारावाही प्रवचन 'राजहृदय भाग-६' थोड़े समय में प्रकाशित करने की भावना है।

भावि योजना (इसवी सन्-२०१२)

आत्मज्ञ सत्पुरुष परम तारणहार सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई की ७९वीं जन्म जयंति आनंदोल्लासपूर्वक संपन्न हुई। इस प्रसंग पर जिनमंदिर में जंबुद्वीप विधान का आयोजन किया गया था एवं शशीप्रभु साधनास्मृति मंदिर में उनके सी.डी. प्रवचन, भक्ति और सांस्कृतिक कार्यक्रम का भी आयोजन किया गया था। सोनगढ, मुंबई, कलकत्ता, आग्रा, अहमदाबाद इत्यादि शहरों से बहोत मुमुक्षुओने यहाँ आकर लाभ लिया।

दि.३-१२-२०११ के दिन पूज्य भाईश्री के मूलवतन राणपुर, की जहाँ उन्होंने लौकिक शिक्षा प्राप्ति कि थी, उस स्कूल में उनके भव्य चित्रपट की एवं उनके जीवनपरिचय की अनावरण विधि करके वहां स्थापना करने में आयी। श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट द्वारा पूज्य भाईश्री के प्रवचनों के पुस्तकों के सेट स्वाध्याय एवं ग्रंथालय के लिये भेंट दिये गये। पूज्य भाईश्री के छह हजार प्रवचनों की डीवीडी, पूज्य गुरुदेवश्री के आठ हजार प्रवचन की डीवीडी एवं साउन्ड सिस्टम तथा डीवीडी प्लेयर भी भेंट दिये। स्कूल में एक ब्लेकबोर्ड भी रखने में आयेगा, जिस पर प्रतिदिन पूज्य भाईश्री के वचनामृत लिखे जायेगे। इस प्रसंग पर जन्मभूमि हाईस्कूल द्वारा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम भी अत्यंत आनंदसहित हुए।

पूज्य भाईश्री के उपकारों को हृदय में अंकित कर एकत्रित हुए सभी मुमुक्षुओ द्वारा अगले वर्षदरम्यान पूज्य गुरुदेवश्री एवं पूज्य भाईश्री के प्रवचनो के पुस्तक प्रकाशित करने का निश्चित किया जो निम्न प्रकार से है।

(१) पूज्य भाईश्री के श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ पर हुए धारावाही प्रवचनो 'राजहृदय' के पाँच भाग प्रकाशित हो चुके है। अगली जन्म जयंति तक भाग-६ एवं भाग-७ प्रकाशित करना।

(२) पूज्य भाईश्री के बहिनश्री के वचनामृत ग्रंथ पर धारावाही हुए प्रवचनों 'अध्यात्मसुधा' के भी पांच भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अगली जन्म जयंति तक भाग-६ एवं भाग-७ प्रकाशित करना।

जिसमें अध्यात्म सुधा भाग-६ का प्रूफ का कार्य चल रहा है एवं राजहृदय भाग-६ का संपादन कार्य चल रहा है। कुल नौ भाग तक की मेटर कम्प्यूटर में फीड हो गई है और अगले भागों की मेटर फीड करने का कार्य चल रहा है।

(३) पूज्य सोगानीजी की जन्म शताब्दी वर्ष अंतर्गत पूर्णाहूति प्रसंग पर मई महिने में गुरु-गिरा गौरव का चौथा भाग प्रकाशित करना एवं पूज्य सोगानीजी की जीवनी पर डोक्युमेन्ट्री फिल्म तैयार करना।

(४) पूज्य भाईश्री की भावना थी कि, परमात्म प्रकाश पर के गुरुदेवश्री के प्रवचन प्रकाशित हों। तदनुसार वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर द्वारा इन प्रवचन प्रकाशित करने की भावना है, जिसका प्रथम भाग पूज्य गुरुदेवश्री की आगामी जन्मजयंति प्रसंग पर प्रकाशित करने की भावना है।

(५) पूज्य भाईश्री के अनुभव प्रकाश ग्रंथ पर के सभी प्रवचन कम्प्यूटर में फीड हो गये हैं। जो आगामी वर्ष में परिस्थिति अनुसार प्रकाशित किये जायेगे।

(६) शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर में स्थापित किये जानेवाले मारबल के पटिये पर उनके वचनामृतो को उत्कीर्ण करने का कार्य शुरू होगा। तथा साउन्ड सिस्टम एवं लाईटिंग की समुचित व्यवस्था की जायेगी।

(७) पूज्य भाईश्री के सभी प्रवचन कम्प्यूटर में फीड हो जाये ऐसी भावना सर्व मुमुक्षुओने व्यक्त की है। एवं वेबसाईट पर उनके छह हजार प्रवचनो को रखने संबंधी भी विचारणा चल रही है। इस संदर्भ में मुमुक्षुओ का टेकनिकल मार्गदर्शन तथा सहकार आवकार्य है। इस संबंधित विचारणा करने हेतु श्री मितेषभाई शाह, भावनगर (०९५८६०१५९९९) पर संपर्क करे।

(८) पूज्य भाईश्री के ओडियो प्रवचनो में बहोत से प्रवचनों में आवाज ठीक नहीं है। वर्तमान टेकनोलोजी का उपयोग कर, आवाज की गुणवत्ता वर्धमान हो तो सर्व मुमुक्षु भाई, बहनो को लाभ का कारण हो। इसलिये इस संदर्भ में जो कोई मुमुक्षु भाई-बहनो को इस संबंधित जानकारी हो और जवाबदारीपूर्वक यह कार्य संभालने की भावना रखते हो वह श्री मितेषभाई शाह, भावनगर का संपर्क करके मार्गदर्शन देने की कृपा करे।

ट्रस्टीगण, श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- हम स्वानुभूति प्रगट करने के लिये क्या करें ?

समाधान :- निर्विकल्पदशा प्रगट हो तब स्वानुभूति होती है। उससे पूर्व मैं ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ-ऐसे बारम्बार ज्ञानमें रटन करते रहना। यह विकल्प आते हैं वे मेरा स्वरूप नहीं हैं; मैं विकल्पोंसे भी पृथक् हूँ; जो मन्द या तीव्र विभाव आते हैं उन सबसे पृथक् मैं चैतन्य हूँ-इसप्रकार बारम्बार उसकी महिमा, लगन तथा अंतरमें रटन रहना चाहिये। मैं ज्ञायक हूँ; विकल्परहित निर्विकल्पतत्त्व हूँ; विकल्पोंके छूट जाने से मैं कहीं शून्य नहीं हो जाता, परन्तु जो अंतरमें भरा है वह प्रगट होता है। मुझमें अर्थात् ज्ञायकमात्र आत्मामें सब परिपूर्ण भरा है - इसप्रकार बारम्बार उसकी भावना-रटन-विचार-पठन करने जैसा है। ज्ञायकके प्रांगणमें टहेल लगाने जैसी है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२५६)



प्रश्न :- शास्त्र-स्वाध्याय एवं विचार करते हुए भेदके मार्गपर चले जाते हैं; अनादिकी आदत है न ?

समाधान :- भेदके मार्गपर चले जाते हो तो बारम्बार लक्ष्य अपनी ओर करते रहना। जबतक अंतरमें लीन नहीं हुआ, अंतर्दृष्टि नहीं हुई तबतक विकल्प कहीं न कहीं तो फिरा करते हैं; बाह्यमें



कहीं खड़ा तो रहना है; परन्तु श्रद्धा और रुचि तो यही रखनी कि ज्ञायकमें सर्वस्व है, उन सबमें रुकने जैसा नहीं है। ज्ञायकमें नहीं रहा जाता इसलिये (विकल्प) आये बिना नहीं रहते, बीचमें आते हैं, परन्तु श्रद्धा तो ज्ञायककी ही रखनी कि निर्विकल्प शुद्धात्मतत्त्व ही मैं हूँ।

(स्वानुभूतिदर्शन-२५७)

प्रश्न :- मुझमें सब कुछ है, किन्तु कौन जाने क्यों विश्वास नहीं आता ! बाह्यमें जवाहिरात आदिका विश्वास आता है !

समाधान :- बाहरका तो सब दिखता है और यह दिखाई नहीं देता इसलिये विश्वास नहीं आता। किन्तु अपनेमें सब कुछ है। गुरुदेव कहते हैं और स्वयं भी विचार करके निश्चय करे कि ज्ञायकमें ही सब भरा है। गुरुदेव कहते थे कि जैसे छोटी पीपरको घिसते-घिसते उसमें से तीखापन प्रगट होता है; वैसे ही 'ज्ञायक हूँ-ज्ञायक हूँ' उसीमें सब भरा हुआ है और उसमें से स्वभाव प्रगट होता है- ऐसे निश्चय करना।

जिसप्रकार दहीको बारंबार बिलोया करे तो मकखन पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार बारम्बार भेदज्ञान करनेसे-बारम्बार 'मैं भिन्न हूँ, भिन्न हूँ'-ऐसे ज्ञानमें अभ्यास करे तो पृथक् है वह प्रगटरूपसे पृथक् हो जाता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२५८)



ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जनवरी-२०१२) का शुल्क श्री परिचंद्र घोषाल परिवार, कलकत्ता के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

बंबई, फागुन सुदी १४, १९४८
 किसीका दोष नहीं है, हमने कर्म बाँधे इसलिये हमारा दोष है
 ज्योतिषकी आम्नाय संबंधी कुछ विवरण लिखा, सो पढ़ा है।
 उसका बहुतसा भाग ज्ञात है। तथापि चित्त उसमें जरा भी प्रवेश
 नहीं कर सकता, और तत्संबंधी पढ़ना व सुनना कदाचित् चमत्कारिक
 हो, तो भी बोझरूप लगता है। उसमें किंचित् भी रुचि नहीं रही है।



हमें तो मात्र अपूर्व सत्के ज्ञानमें ही रुचि रहती है। दूसरा जो कुछ किया जाता है या जिसका अनुसरण किया जाता है, वह सब आसपासके बंधनको लेकर किया जाता है।

अभी जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाह्य उपयोगमें प्रवृत्त करना पड़ता है। आत्मा उसमें प्रवृत्त नहीं होता। क्वचित् पूर्वकर्मानुसार प्रवृत्त करना पड़ता है, जिससे अत्यंत आकुलता आ जाती है। जिन कर्मोंका पूर्वमें निबंधन किया गया है, उन कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये, उन्हें भोग लेनेके लिये, अल्प कालमें भोग लेनेके लिये, यह व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन करते हैं।

अभी जो व्यापार करते हैं उस व्यापार के विषयमें हमें विचार आया करता था, और उसके बाद अनुक्रमसे उस कार्यका आरंभ हुआ, तबसे लेकर अब तक दिन प्रतिदिन कार्यकी कुछ वृद्धि होती रही है।

हमने इस कार्यको प्रेरित किया था, इसलिये तत्संबंधी... यथाशक्ति मजदूरी जैसा काम भी करनेका रखा है। अब कार्यकी सीमा बहुत बढ़ जाने से निवृत्त होनेकी अत्यंत बुद्धि हो जाती है। परंतु... को दोषबुद्धि आ जानेका सम्भव है; वह अनंत संसारका कारण... को हो ऐसा जानकर यथासंभव चित्तका समाधान करके वह मजदूरी जैसा काम भी किये जाना ऐसा अभी तो सोचा है।

इस कार्यकी प्रवृत्ति करते समय हमारी जितनी उदासीन दशा थी, उससे आज विशेष है। और इसलिये हम प्रायः उनकी वृत्तिका अनुसरण नहीं कर सकते; तथापि जितना हो सकता है उतना अनुसरण तो जैसे-तैसे चित्तका समाधान करके करते आये हैं।

कोई भी जीव परमार्थकी इच्छा करे और व्यावहारिक संगमें प्रीति रखे, और परमार्थ प्राप्त हो, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता। पूर्वकर्मको देखते हुए तो इस कार्यसे निवृत्ति अभी हो ऐसा दिखाया नहीं देता।

इस कार्यके पश्चात् 'त्याग' ऐसा हमने तो ज्ञानमें देखा था; और अभी ऐसा स्वरूप दीखता है, इतनी आश्चर्यकी बात है। हमारी वृत्तिको परमार्थके कारण अवकाश नहीं है ऐसा होनेपर भी बहुतसा समय इस काममें बिताते हैं; और इसका कारण मात्र इतना ही है कि उन्हें दोषबुद्धि न आये। तथापि हमारा आचरण ही ऐसा है, कि यदि जीव उसका ख्याल न कर सके तो इतना काम करते हुए भी दोषबुद्धि ही रहा करे।